सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

13

एक नयी भाषा का उदय : देवनागरी जगत में देखना और दिखाना (सन् 1850 से 1920 तक)

सदन झा

असोशिएट प्रोफेसर

सेंटर फॉर सोशल स्टडीज़, सूरत (गुजरात)

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

2014

सामयिक प्रकाशन, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© सदन झा, 2014
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग, पुनरोत्पादन किसी भी रुप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरुपेण अथवा अंशतः, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011
ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 978-93-83650-57-6

मूल्य रुपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

सामयिक प्रकाशन, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

एक नयी भाषा का उदय : देवनागरी जगत में देखना और दिखाना (सन् 1850 से 1920 तक)*

सदन झा

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के आरम्भिक दो दशक भारत में ऐसे अनेक परिवर्तनों के साक्षी रहे जिनके दीर्घकालीन परिणाम हुए। देवनागरी लिपि में प्रकाशित साहित्य की ओर रुख करते हुए यह लेख भारतीय सन्दर्भों में देखने के इतिहास से जुड़ी कुछ पेचीदगियों से रुबरु होने की कोशिश करेगा। 1857 में सत्ता हस्तांतरण के बाद के दो दशक भारत में 'अथॉरिटी' के नए सिद्धांतों को लाए जब घटनाओं और कर्मकांडों ने 'नए किस्म के सांस्कृतिक-सांकेतिक संविधान' रचे, आने वाले समय के लिए राजनीति की नई भाषा का उदय हुआ। यहाँ से बात शुरु करते हुए यह अध्ययन इस 'अथॉरिटी' की शर्तों, इसके बनने की भाषा और इसके प्रतिरोधों की ओर प्रस्थान करेगा। यही वह काल भी था जब 1850 के दशक से भारतीय भाषाओं के प्रकाशन में जो तेजी आई थी वह भी अपने उफान पर थी। देवनागरी में नयी ज्ञान संपदा, पुराने साहित्य को नए कलेवर और छापे-खाने की नई तकनीक के माध्यम से नया बाजार और पाठक मिल रहे थे। नए साहित्य भी रचे जा रहे थे। पत्र-पत्रिका, विज्ञापन और कार्टून भी आ रहे थे। इस पक्ष पर विद्वानों ने खूब काम भी किया है। लेकिन देवनागरी साहित्य, साहित्य को बेहतरीन ढंग से व्याख्यायित करने वाले इतिहासकारों और साहित्य के विद्वानों ने भी इन्ही पत्र-पत्रिकाओं में, स्कूल की पोथियों में शब्द के साथ छपे चित्रों की तरफ नज़र नहीं डाली। दूसरी तरफ, अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में ऐसी लेखनी हैं जिन्होंने इस दौर और बाद के समय में भी, चित्र संस्कृति की तरफ हमारे ज्ञान का इजाफा किया है। लेकिन यहाँ देवनागरी जनित साहित्य को मोटे तौर पर कहें तो उपेक्षा का ही शिकार होना पड़ा है। साथ ही दूसरी तरफ अन्य भारतीय सन्दर्भों में भी शब्द और चित्र को साथ-साथ रखकर व्याख्यायित करने का रिवाज़ भी नहीं के सामान है। इस साहित्य पर ध्यान केन्द्रित रखते हुए और अन्य तरह के साक्ष्यों का संज्ञान भी लेते हुए मैं यह स्थापित करने का प्रयास करुँगा कि नया सांस्कृतिक-सांकेतिक मूल्य देखने और दिखाने की एक नयी भाषा के इर्द-गिर्द अपना आकार ले रहा था।

"देखने और दिखाने की इच्छा निकाल दी जाय तो जनाकीर्ण जगत और जीर्ण अरण्य बराबर हो जाय". *हिंदी प्रदीप*, जुलाई, 1883।

*7 अप्रैल 2014 को नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली में दिए गए व्याख्यान का संशोधित संस्करण।

I

साहित्य को लिखा जाता रहा है और साहित्य को पढ़ा गया है। फिर, कहा गया और सुना गया भी साहित्य माना जाने लगा। लोक के बीच संग्रहित और समाज के अनगिनत रुपों में अलिखित माध्यम से प्रवाहित मानवीय अनुभव और ज्ञान पद्धतियाँ अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों यथा लोकगीत, लोकगाथा, लोकोक्ति, मिथक आदि के द्वारा साहित्य के आकाश का ही तो फैलाव हैं। भारत के सन्दर्भ में यह और भी समीचीन हो जाता है जहां एक बड़े समय तक ज्ञान की थाती श्रुति परंपरा से ही होकर गुजरती रही। वेद, पुराण, महाभारत जैसों का लिपिकरण तो बहुत बाद में हुआ। ऐसे में इतिहासकार इस थाती के श्रुति इतिहास और इनके लिखे स्वरुपों के बीच के संबंधों की जटिलता पर गौर करने के बाद ही अपने निर्णयों की तरफ प्रस्थान करते हैं। अनेक अवसरों पर इनमें से कई ग्रंथों का, उनके सूक्तों का खुले में पाठ भी किया जाता था। ऐसे पाठों के प्रदर्शनकारी (परफॉर्मेटिव) आयाम भी रहे होंगे। ऐसे पाठों के लिए उच्चारण, अभिव्यक्ति और भंगिमा के अनुशासन का होना स्वाभाविक सा लगता है। ये नियम इसलिए भी क्योंकि उस साहित्य का धर्म से बहुत नजदीकी रिश्ता था और सूक्तों के मंत्रीकरण के कारण भी नियम और कर्मकांड रहे। निरुक्ति के बाहर भी परफॉर्मेंस के इन अवयवों का उनके सामाजिक अर्थ उत्पादन के साथ और उनके सामाजिक इतिहास के साथ क्या कोई सम्बन्ध है? चारण साहित्य, जो मध्यकाल के इतिहास के लिए अति महत्वपूर्ण है–तो दरबार में ही परफॉर्मेटिव तरीके से सुनाया जाता रहा होगा। तो, ऐसे में क्या उस परफोर्मेंस को कला के इतिहास के चौखटे में बाँध कर उनके शब्दों को साहित्य के इतिहास और कला के इतिहास में विभाजित कर आंकना उचित होगा?

इस्लामी परम्परा में पवित्र कुरान की आयतों का इस्तेमाल पवित्र शब्दों के रुप में स्थापत्य की सुन्दरता और उसको पाक बनाए रखने के लिए किया जाता था। बहुत संभव है कि इस तथ्य ने कैलीग्राफी के विकास में भी योगदान दिया हो। अक्षरों का इस्तेमाल कई तरह

से मूर्तियों और मानवीय देह के उपयोग का एक विकल्प भी पैदा करता था क्योंकि इस्लाम में मानवीय चेहरों और मानवीय आकृतियों के चित्राकंन की इजाजत नहीं थी। यह दूसरी बात है कि हिन्दुस्तान में ऐसे प्रतिबन्ध दैवीय शक्ति के चित्रांकन तक सीमित रहें होंगे और इस धार्मिक कानून का मध्यकाल में पांडुलिपियों को चित्रों से सजाने के रास्ते में यह बंधन शायद ही आड़े आया हो। जैन परम्परा में चित्रित पांडुलिपियाँ तो पहले से ही मौजूद रही। कागज के आ जाने से ऐसी चित्रित पांडुलिपियों की संख्या में बहुत इजाफा हुआ। उन्नीसवीं सदी में प्रिंट तकनीकी के आने के साथ, कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज का प्रकाशन के एक अहम् संस्था के रुप में उदय होने से और फिर मेकाले एवं बेंटिक की नीतियों के फलस्वरुप 1837 में अंग्रेजी द्वारा फारसी का सरकारी काम-काज की भाषा से स्थानांतरण ने भाषा और लिपियों के इतिहास में एक नया युग शुरु किया। प्रिंट के दूरगामी परिणाम हुए जो फोर्ट विलियम कालेज और ब्रितानी नीतियों के अपेक्षित परिणामों से कही आगे जाता है।[2] फ्रांचेस्का ऑर्सीनी लिखती हैं कि लिथोग्राफी और कॉपी करने वाले द्विभाषियों की उपस्थिति के बदौलत प्रिंटेड किताबें सहज ही हिंदी-उर्दू विभाजन रेखा का उल्लंघन कर सके, अपने लिए नए ऑडिएंस समुदाय और एक रूचि का निर्माण कर पाए।[3] उत्तर भारत में इस दौर के प्रिंट संसार, उनका साहित्य और बाजार के साथ के नजदीकी ताल्लुकात की बारीकियों को समझने के लिए फ्रांचेस्का ऑर्सीनी का अध्ययन बहुत उपयोगी है। उलिरिक स्टार्क ने इसी दौर (उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध) के एक प्रमुख संस्थान नवल किशोर प्रेस के जरिये प्रिंट, तकनीक और बाजार के बीच के संश्लिष्ट सम्बन्ध को व्याख्यायित किया है।[4] इन अध्ययनों ने साहित्य के इतिहास को उत्तर भारतीय सन्दर्भों में नये आयाम प्रदान किये हैं जिससे साहित्य,

---

[2] चले आ रहे श्रुति साहित्य के संबंध में प्रिंट के आने से हुए बदलाव के लिए देखें स्टुअर्ट ब्लैकबर्न और वसुधा डालमिया संपा. *इन्डियाज लिटरेरी हिस्ट्री : एसेज ऑन द नाइनटींथ सेंचुरी,* दिल्ली, परमानेंट ब्लेक, 2004।

[3] फ्रांचेस्का ऑर्सीनी, *प्रिंट एंड प्लेजर : पापुलर लिटरेचर एंड इंटरटेनिंग फिक्संस इन कोलोनियल नार्थ इण्डिया,* रानीखेत, परमानेंट ब्लैक, 2009, पृष्ठ 3।

[4] देखें *उलिरिक स्टार्क, एन इम्पायर ऑफ बुक्सरू द नवल किशोर प्रेस एंड द डीफ्युजन ऑफ द प्रिंटेड वर्ल्ड इन कलोनिअल इण्डिया,* रानीखेत, परमानेंट ब्लेक, 2007।

हिंदी-उर्दू विवाद, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता जैसे अहम् लेकिन बासी पड़ चुके चौखटों से बाहर आकर तकनीक, बाजार, सर्कुलेशन, नए पाठक समुदाय और साहित्य के विभिन्न प्रारुपों के बीच के अन्तःप्रवाह जैसे मुद्दों के क्रीड़ा-स्थल के रूप में भी हमारे सामने आता है. महज, विचारधारा और राजनीति के अखाड़े ही सिमटा हुआ नहीं। लेकिन ऊपर उद्धृत पंक्तियों के सम्बन्ध में यह सवाल आवश्यक हो जाता है कि कहीं फ्रांचेस्का उत्तरवर्ती काल के भाषा विवाद को एक पहले समय में आयात तो नहीं कर रही? क्योंकि यह वह दौर था जब अधिकतर पाठक द्विभाषी ही नहीं बहुभाषी हुआ करते थे जिससे द्विभाषी पाठक का आगमन प्रिंट का परिणाम नहीं बल्कि प्रिंट की पूर्वगामी परिघटना बन जाती है। खैर, प्रिंट के आगमन के एक अन्य परिणाम की बात करते हुए 'किस्सा' के संबंध में फ्रांचेस्का ऑर्सीनी लिखती हैं कि "किस्सा के व्यापक पैमाने पर छपने की परिघटना को उनके ओरल रिसाईटेशन (सामूहिक श्रुति पाठ) से साइलेंट रीडिंग (एकांत मौन पाठ) के एकरेखीय परिवर्तन के साक्ष्य की तरह नहीं आंका जाना चाहिए...इनके विजुअल प्रजैंटेशन के लिहाज से भी किस्सा नए टाईपोग्राफिकल परिपाटियों जैसे पैराग्राफ, कोटेशन मार्क और पंक्चुएशन (सेजूरा {caesura} से इतर) आदि को नजरअंदाज किया"।[5]

स्थानीय स्तर पर फारसी कोर्ट और कचहरियों की भाषा के रुप में देवनागरी के बदले वरीय भूमिका में रही। यदि लिपि को किसी

[5] फ्रांचेस्का ऑर्सीनी, *प्रिंट एंड प्लेजर,* पृष्ठ 109-110. फ्रांचेस्का ऑर्सीनी आगे लिखती हैं, "Visually lithographed booklets reproduced the hand of calligraphers and, in Urdu books, the look of earlier manuscript books. Hindi lithographed books introduced new conventions, such as paragraphs and indenting, and their copyists' hands strained to reproduced the standard look of type fonts. In terms of poetic tastes and narrative repertoire song books and qissas were strikingly eclectic, partly because they continued performers' traditions, but also because they were printed in both scripts, thereby creating a common pool of forms and motifs. As a result, songs and tales evolved towards even greater eclecticism, and included a range of linguistic dialects and written registers within the same song or tale. These genres met with great favour among neo-literate groups and circulated well in towns and in the countryside through booksellers' stalls at fairs (Francesca Orsini, *Print and Pleasure: Popular Literature and Entertaining Fictions in Colonial North India*, Ranikhet, Permanent Black, pp.160–161)".

भाषा का प्रतिनिधि माना जाय तो इस पूरे मंजर में प्रतिनिधित्व का सवाल एक राजनैतिक रुप इख्तियार करने लगा था। सवाल जितना हिंदी और उर्दू का था उतना ही देवनागरी और फारसी का भी। इसी के साथ कोई भाषा अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रिंट में कैसे दिखे यह भी गौर तलब हो चला था। फारसी लिपि में लिखे जाने पर मामूली लेखन-दोष किस तरह अर्थ का अनर्थ कर सकने की गुंजाइश पैदा करते थे इसको लेकर चुटीले कटाक्ष किये जाने लगे थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 1882 में ब्रिटिश एजुकेशन कमीशन के द्वारा भेजे गए एक प्रश्नावली के जवाब में लिखा :

> "The best remedy would be to make...the language of the court the language used by people, and to introduce into the court papers the character[i.e., script] which the majority of the public can read. The character in use in primary schools of these provinces is, with slight exceptions, entirely Hindi, and the character used in the courts and offices is Persian, and therefore the primary Hindi education which a rustic lad gains at his village has no value, reward or attraction attached to it...If Urdu ceases to be the court language, the Mussalmans will not easily secure the numerous offices of Government...of which they have at present a sort of monopoly. By the introduction of the Nagri character they would lose entirely the opportunity of plundering the people by reading one word for another and thereby misconstruing the real sense of the contents... . For example, make a mark like [a three letter word in Persian script], and we have 606 different pronunciations...
>
> May God save us from such letters!!! What wonders cannot be performed through their medium? Black can be changed into white and white into black...The use of Persian letters in offices is not only an injustice to Hindus, but it is cause of annoyance and inconvenience to the majority of the loyal subjects of Her Imperial majesty" (मूल अंग्रेजी में ही).[6]

[6] साभार हरीश त्रिवेदी, "द प्रोग्रेस ऑफ हिंदी, पार्ट 2: ब्हंदी एंड दि नेशन", शेल्डन पोल्लोक संपा. *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्ट्री रिकंस्ट्रकसंस फ्रॉम इण्डिया*, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004, पृष्ठ 958-1022, यहाँ पृष्ठ 964।

चित्र 1 : आवरण पृष्ठ, *देवनागर,* वत्सर 3 कुम्भ मीन ५०११, कल्पब्द अंक 11–६२. कलकत्ता से प्रकाशित यह पत्रिका 'एक लिपिविस्तार परिषद्' की मुख्य पत्रिका थी। एकलिपिविस्तार परिषद, की स्थापना 1905 में हुई थी जिसके साथ पाण्डेय उमापतिदत्त शर्मा का नाम जुड़ा हुआ है जो सोनबरसा (भागलपुर) हाई स्कूल के हेड मास्टर और बाद में 1909 में प्रेसिडेंसी कालेज के प्रिंसिपल और बंगाल गवर्मेंट में हिंदी अनुवादक के पद पर भी रह चुके थे।

जाहिर सी बात है यहाँ अनेक तरह के दावे किये जा रहे हैं। सरकारी काम-काज की भाषा और लोगों की भाषा में फर्क की तरफ इशारा किया जा रहा है। स्कूल और शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित भाषा की बात हो रही है। भाषा को सम्प्रदाय से सीधे-सीधे जोड़कर भाषा, धार्मिक समुदाय और वर्चस्व के बीच के सीधे तार की ओर ध्यान दिलाया जा रहा है। लेकिन इन सबके आधार में लिपि का अंतर है। नागरी और फारसी का अंतर ही उर्दू और हिंदी के अंतर के मूल में स्थापित

करने की कोशिश है।[7] विद्वानों और इतिहासकारों ने इस सरल सूत्रीकरण, इस साफ विभाजन के बीच की पेचीदगियों की तरफ भी ध्यान दिलाया है। जब नागरी में भी हिंदी और हिन्दुस्तानी की बात होती है और दूसरी तरफ उर्दू में भी उन साहित्यकारों ने रचनायें की हैं जिनसे हिंदी भाषा अपने को जोड़कर गौरवान्वित महसूस करती है।[8] लेकिन जो तीखा व्यंग्य भारतेंदु के द्वारा यहाँ किया जा रहा है वह सीधा-सीधा एक लिपि के देखे जाने को लेकर है, उस लिपि को (देखकर) पढ़ने के दुःसंभावनाओं को लेकर है।

उत्तरोत्तर नागरी और फारसी का विवाद नागरी और उर्दू के विवाद और फिर हिंदी और उर्दू के विवाद के रूप में साम्प्रदायिक और भाषाई रंगों के साथ गहराता गया। एक समकालीन अंग्रेज अफसर लिखते हैं :

> "The very sight of the Nagri Character tends to perpetuate the antagonism between Urdu and Hindi, and to give an undue prominence to words of Sanskrit origin, on account

[7] *लिपि के स्तर* पर बात करते हुए यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि *प्रायः* ही उर्दू, फारसी और अरबी लिपि को समानार्थी भाव से प्रयोग किया जाता रहा है। जुबान के स्तर और शब्दों तथा व्याकरण के लिहाज से और ऐतिहासिक विकासक्रम के मद्देनजर भी इनमें आपस में अनेक फर्क हैं। हिंदी-उर्दू भाषाई विवाद के ऊपर लिखने वाले अधिकतर विद्वानों ने जुबान के मद्देनजर ही विषय को आंका है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस 'उर्दू बेगम' की मृत्यु का कटाक्ष किया है उसकी मैयत में अरबी, फारसी, पश्तो और पंजाबी को शामिल किया क्योंकि वे सब एक विदेशी लिपि को साझा करते थे. साभार शमशुर रहमान फारुकी, "ए लॉन्ग हिस्ट्री ऑफ उर्दू लिटरेरी कल्चर, पार्ट 1 : नेमिंग एंड प्लेसिंग अ लिटरेरी कल्चर", शेल्डन पोल्लोक संपा. *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्ट्रीः रिकंस्ट्रकशंस फ्रॉम इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004, पृष्ठ 805–863, यहाँ पृष्ठ 814।

[8] देखें शमशुर रहमान फारुकी, "ए लॉन्ग हिस्ट्री ऑफ उर्दू...", ऊपर उल्लिखित। विषयगत कालखंड से एक उदाहरण *सज्जाद संबुल* नामक नाटक के विज्ञापन से भी समझा जा सकता है : "यह नए ढंग का किस्सा नागरी हर्फ और उर्दू बोलचाल में छपा है। इसमें जगह–जगह बंगाली, अंग्रेजी और देहाती लोगों की गँवारी बोलचाल भी है। बहुतेरी जगहों में ऐसा लिखा गया है कि जिसके पढ़ने से पढ़ने वाला कैसा भी उदास क्यों न हो जरुर ही हस पड़ेगा, और अन्य जगहों में ऐसे बयां हैं कि उनके पढ़ने में संगदिल की आँखें भी डबडबा आती है–मजाल नहीं कि वे दो बूंद अश्रु टपकाए आगे बढ़ जाएँ, दाम सिर्फ एक रुपया, डाक महसूल दो आने. मनेजर "विहार वंधु" छापाखाना, वांकीपूर". *हिंदी प्रदीप,* अप्रैल 1880, पृष्ठ 21।

of the long standing and almost resistless association existing between the Nagri character and the Sanskrit vocabulary".[9]

लब्बो-लुबाब यह कि जब साहित्य में लिपि जिसे देखकर ही पढ़ा जा सकता था या फिर सुनकर ग्राह्य किया जा सकता था और साहित्य का प्रदर्शन और चित्र से भी नाता रहा (जैसा कि हमें इस संक्षिप्त सर्वे से अनुमान हो सकता है) तो फिर साहित्य और इसके इतिहास में हम देखने की क्रिया क्यों नहीं शामिल करते ? एक काल-खंड उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर सन् 1920 तक के समय के बरक्स यह लेख साहित्य और देखने के बीच देवनागरी जगत के इसी अनछुए पक्ष की पड़ताल करता है। चंद सवाल उठाने की जहमत करता है।

II

इलाहाबाद से निकलने वाली चर्चित मासिक पत्रिका *हिंदी प्रदीप* ने अपने जुलाई 1883 अंक में चार पृष्ठों का एक लम्बा लेख प्रकाशित किया। इस लेख का शीर्षक था: 'देखना-दिखाना'।[10] *हिंदी प्रदीप* का यह आलेख देखने-दिखाने की क्रिया को सभ्यता के मूल में स्थापित करता है। देखने-दिखाने की इस क्रिया को विकास हेतु मानवीय उद्भावना के केंद्र में रखता है और देखने-दिखाने तथा तमाशा के बीच के सीधे सम्बन्ध को रेखांकित करता है। यहाँ यह भी जिक्र हो कि देखने दिखाने की तार को जोड़ते हुए यह आलेख हाल में हुए राजकीय दरबार की आलोचना पर जा कर खत्म होता है।

---

[9] जे. सी. नेसफील्ड, 1870 के दशक के मध्य में अवध में डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन का कथन, क्रिस्टोफर आर. किंग, *वन लैंगुएज, टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाइन्टीन्थ सेंचूरी नार्थ इण्डिया,* बम्बई, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1664, पृ. 107 से।

[10] "देखना–दिखाना", *हिंदी प्रदीप,* सम्पादक-प्रकाशक: बालकृष्ण भट्ट, 1 जुलाई 1883, पृ. 4–7. लगभग 24 पृष्ठों के इस मासिक में चार पेज इस लेख के लिए समर्पित करना निश्चित तौर पर ध्यान आकर्षित करता है। लगे हाथ यह जिक्र कर देना भी लाजिमी होगा कि इस समय तक आते-आते हिंदी प्रदीप की हालत खस्ता हो चुकी थी जिसे इस मासिकी का बारीकी से अध्ययन करने वाला कोई भी पाठक आसानी से भांप सकता है। आलेखों की विविधता में ह्रास आ चुका था और विषयों की गुणवत्ता पर अब बट्टा लग गया था।

लेख के अनुसार :

> "इसी देखने दिखाने का दूसरा नाम तमाशा है। सच पूछो तो यह जगत ही एक तमाशा है। तमाशा क्या है अरबी शब्द शब्दार्थ देखने कि जगह और केवल चक्षु...इन्द्रिय का विषय है... बहुत लोग कहते हैं कि सब वस्तु देखी नहीं जाती किन्तु जो देखने योग्य है वही देखी जाती है। परन्तु आज तक ऐसा कोई ना मिला जो देखने से पहले यह विचार लेता हो कि जो देखने योग्य हो उसी को देखे, ना यही कोई निर्णय कर सकता है कि देखने योग्य क्या है और क्या नहीं। हमें खूब याद है कि जब रानी महारानी के जयेष्ट पुत्र ने इसी भाग्यहीन भारत को अपने चरण कमलों से कृतार्थ किया था उस समय हर शहर में, उनको देखने को कैसे भीड़ जुटती थी। लोगों को जो मेहनत पड़ी, जो मुसीबत सहने में आई जिनके-२ एहसान को सहना पड़ा, जो बेइज़्ज़ती हुई, वह हमारे कितने पाठकों को आज तक याद होगा। पर यह हमसे कोई बताये कि प्रिंस के साथ कौन चीज देखने लायक थी"।

इसी *हिंदी प्रदीप* ने अपने एक साल पूरे होने पर सन 1878 के अगस्त अंक में एक कजली भी प्रकाशित की थी जो यहाँ तवज्जो चाहता है :

> "टिक्कस लागल रे कस-कस के छोड़ अपना रोजगार।
> टिक्कस लागल आए।
> बादल पागल सब संसार।। टिक्कस ला0
> नगर-नगर सब गलिन में घुमले छेकल आय दुआर।
> डगर-डगर में चिपकल कगजवा देखहु नैन पसार।। टिक्कस ला0
> कचहरिया में चलल पियदवा करिले आय पुकार।
> नौ तारीख लौ आपन टिक्कस दाखिल करहुँ निकाल।। टिक्कस ला0
> होय पास चुपके ही दयधालहु नाहि लहू उधार।
> गीरौं धरो जो ऐसे न पावौ मेहरी की नथिया उतार। टिक्कस ला0
> काल पड़ल वा अन्न न जुरलै मच रही हाहाकार।
> एतनी बिपतिया माथे पड़लेहु टिक्कास कै धुधकार।। टिक्कास ला0
> चौनी कजलिया बहु दिन गईले सुख हू कौन अपार
> ऐसल फिरंगिया टिकस लागौले बिगड़ गयल सब तार।।
> टिक्कस लागल रे कास कास कै छोड़हु अपना रोजगार[11]

[11] *हिंदी प्रदीप*, अगस्त 1878, पृष्ठ 8.

इसी के साथ, 1886 में ही अप्रैल महीने के *हिंदी प्रदीप* में छपा यह विज्ञापन भी देखा जाय :

Culcutta Art Studio 185 Bowbazar Street

"200 किस्म की उम्दा और खुबसूरत हिन्दु देवी देवताओं की आधे दाम में एक साथ ५) की तस्वीर लेने पर तीन तस्वीरें देवी देवताओं की और १ तस्वीर लार्ड लेंसडोन और उनकी लेडी साहबा की मुफ्त में"

III

ये तीन उदाहरण हैं साहित्य के तीन अलग-अलग रुपों कीः एक आलेख है तो दूसरा कजली और तीसरा एक विज्ञापन।[12] उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से लिए गए ये तीन नमूने जहाँ एक ओर अपने समय के साहित्य (देवनागरी प्रिंट साहित्य) के आकाश की तरफ इशारा कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर पहले दोनों सन्दर्भों में (देखना-दिखाना लेख और कजली में) ब्रिटिश साम्राज्य की नीतियों और साम्राज्य से जुड़ी चेहरों की आलोचना को साफ तौर पर पढ़ा जा सकता है। लेकिन इन दोनों ही ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ जो तथ्य मेरे लिए यहाँ खास तौर पर सनसनीखेज है वह यह कि ये तीनों एक ऐसे समय को भी समझने में हमारे लिए सहयोगी हो सकते हैं जब भारत में व्यापक पैमाने पर मशीनी तरीके से चित्रमय प्रिंट (mechanical and mass reproduction of pictorial registers in print) का उत्पादन होने लगा था। सन 1850 के मध्य या फिर कहें कि 1860 दशक के शुरू से ही भारत में फोटोग्राफी तेजी से फैली और साथ ही देखने के इर्द-गिर्द एक विशेष किस्म का

[12] विज्ञापन को साहित्य के विधा के रुप में स्वीकार किया भी जाय या नहीं इस बात पर साहित्यविदों के मध्य गहरा मतभेद हो सकता है। यदि मेरा अनुमान गलत नहीं है तो बहुत हाल के दशकों में ही विज्ञापन को पत्रकारिता की दुनिया में भी एक अभिन्न अंग के रुप में देखा गया है। वरना तो यह खरीदने-बेचने के ही वरक्स और ज्ञान-विज्ञान से जुदा रख कर देखा जाता रहा। पर यहाँ यह भी ताकीद करना जरुरी है कि ऐसा मैं महज अनुमान से ही कह रहा हूँ। हिंदी जगत में विज्ञापन और उसके प्रति नजरिये का एक माकूल इतिहास अभी लिखा जाना है। कम से कम मैं ऐसे किसी आलिख या किताब से परिचित नहीं हूँ वैसे इसे मेरी कमसमझी भी मान सकते हैं।

विमर्श भी आकार लेने लगा। साथ ही यह वह समय था जब देवनागरी के प्रिंट कागज पर लिथोग्राफी और अन्य तकनीकियों से अक्षर के साथ चित्रों को भी छापे जाने का प्रचलन बढ़ा था। हम इन मुद्दों पर विस्तार से वापस आयेंगे।

यदि इन तीन उदाहरणों को *हिंदी प्रदीप* के अपने सन्दर्भ में आंका जाय तो ये इस मासिक के विषयों की विविधता को भी दर्शाता है। एक ऐसी पत्रिका की रुझानों से हमारे रुबरु होता है और जिसे जो उत्तरोत्तर हिन्दू सम्प्रदायवादी नजरिये के करीब माना जा सकता है। पर इन सबके साथ देखने-दिखाने की इस लेख में जो विशिष्टता है वह है नैतिक राजनीतिक भाषा का उपयोग। इस भाषा का इस्तेमाल बहुत इरादतन, देखने लायक और जो देखने लायक नहीं है, के बीच के भेद को दर्शाने के लिए किया गया है। यहाँ प्रिंस को देखने के प्रयासों की निरर्थकता बताते हुए और पूरे प्रकरण को तमाशा करार देते हुए पाठकों को एक तरह से ऐसे तमाशे से बचने की हिदायत भी दी जा रही है। नैतिक भाषा का प्रयोग करते हुए दिखने से संबंधित दिशा निर्देश दिए जा रहे हैं। एक अन्य स्तर पर यह लेख साथ ही साथ इस भेद, देखने योग्य और देखने अयोग्य के बीच के इस अंतर को भी सिरे से नकारता प्रतीत होता है, जब यह लिखता है कि "आज तक ऐसा कोई ना मिला जो देखने से पहले यह विचार लेता हो कि जो देखने योग्य हो, उसी को देखे, ना यही कोई निर्णय कर सकता है कि देखने योग्य क्या है और क्या नहीं"? पर जो बात मेरे लिए सबसे अहम् है वह यह कि यह लेख देखने और दिखाने की क्रिया की इस इच्छा को सभ्यताजनित विमर्श के निर्धारक के रुप में स्थापित करने का जतन करता है: "देखने और दिखाने की इच्छा निकाल दी जाय तो जनाकीर्ण जगत और जीर्ण अरण्य बराबर हो जाय"। देखने के इर्द-गिर्द केन्द्रित यह सौन्दर्यानुभूति (visually grounded aesthetic impulse) हमें आधुनिकता की उस भाषा की ओर ले जाता है जिसकी तरफ अनेकों विद्वानों ने हमारा ध्यानाकर्षित किया है, जहाँ हमें बताया गया है कि आधुनिकता के दावे मूल रुप से दिखाने और प्रदर्शन (demonstration) के दृश्य व्याकरण (visual grammer) से संरचित हुए हैं। देखने-दिखाने के इस आलेख को और अन्य दोनों उद्धरणों को इनके अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों में, इस समय से आते अन्य साक्ष्यों के बराबर

रखकर आंकने की जरुरत है। देखने-दिखाने के ऊपर दिए गए वक्तव्य, तमाशा, दरबार की आलोचना आदि को इस समय के देखने के इतिहास में प्रवेश करने के जरिये के रुप में इस्तेमाल किया जा सकता है।[13] लेकिन, इससे पहले कि हम इन बारीकियों में जाएँ *हिंदी प्रदीप* का एक संक्षिप्त विवरण हमारे लिए आगे बढ़ने में मददगार ही होगा।

हिंदी प्रदीप एक मासिक पत्रिका थी जो इलाहाबाद से निकला करती थी। इसके संस्थापक सम्पादक-प्रकाशक थे बालकृष्ण भट्ट (1844-1877) जिन्होंने महारानी विक्टोरिया के द्वारा 1876 में 'हिन्दोस्तान की सम्राज्ञी' की पदवी ग्रहण करने के एक साल के बाद सितम्बर 1877 में इस मासिक का प्रकाशन आरम्भ किया। साहित्यिक इतिहासकार मारियोला अफ्रीदी के अनुसार बालकृष्ण भट्ट पहले व्यक्ति थे जिन्होंने छात्रों को राजनीति से जोड़ने का प्रयास किया। *हिंदी प्रदीप* उन छात्रों की वित्तीय

[13] यह इसलिए भी जरुरी हो जाता है क्योंकि *हिन्दी प्रदीप* ने खुद ही अपने पहले के अंकों में इम्पीरियल दरबार के प्रति एक अलग नजरिया अपनाया था। इसने लिखा था कि दरबार पूरे देश भर के संपादकों के मिलने का एक अवसर था और इसी लिए यह एक 'अच्छा अवसर' माना गया। इसने पूरे 'भारत खंड' की एकता का निर्माण किया। रिपोर्ट ने यह भी लिखा कि इन्ही समाचारपत्रों के कारण ही लोग 'मुल्क की भलाई', 'देश की भलाई', 'देश हित', 'देश शुभ चिन्तक' आदि शब्दों से परिचित हो सके। लोग महज इन से शब्दों से ही परिचित नहीं हुए वरन इसके पीछे छुपी भावनाओं से भी अवगत हुए और इन विचारों और इन उद्देश्यों को अपनाएं। 'एक ऐसे समाज का उत्सुक', 'प्रेरित', *हिंदी प्रदीप*, दिसंबर, 1877, पृष्ठ 11-12, साथ ही कई कवित्त, दोहे, सवैये और लेख आदि भी छपे जो दरबार की निंदा करते मिलते हैं। 1877 के इम्पीरियल दरबार और इस समय के अन्य चकाचौंध से भरे राजनीतिक आयोजनों जैसे '1876 के रॉयल टायटल्स एक्ट' का बर्नार्ड कोहन ने बखूबी अध्ययन किया है जो अनेक अंतर्दृष्टि से परिपूर्ण है। ये लिखते हैं कि इन आयोजनों को जब प्लान किया गया और इनके होने के ठीक बाद भारतीय भाषा और अंग्रेजी दोनों प्रेसों में इसको बहुत आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। कईयों ने इसे कई मायनों में बिन-अंग्रेजी (un-English) और लिट्टन तथा डिसरेय्ली के दिमाग का फितूर (wild imagination) माना। बर्नार्ड कोहेन, ''रेप्रेजिंटिंग अथॉरिटी इन कोलोनिअल इंडिया'', एन *अन्थ्रोपोलोजिस्ट अॅमंग हिस्टोरियंस एंड अॅदर एसेज,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987, पृष्ठ 677।

सहायता से स्थापित हुआ था जहां भट्ट पढ़ाया करते थे।[14] बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु के करीबी समर्थकों में से थे और भारतेंदु के प्रति उनकी श्रद्धा और उनका समर्थन *हिंदी प्रदीप* के पन्नों में खूब झलकता है। यद्यपि सांप्रदायिक रुझान इन पृष्ठों में बहुत साफ-साफ पता चलता है और जिसका तेज धीरे-धीरे बढ़ता ही गया, फिर भी इस मासिक का पाठक *हिंदी प्रदीप* के विषयों की विविधता को सराहे बिना नहीं रह सकता है। आवरण पृष्ठ इसके फलक को उचित ही उद्‌भाषित करता है : इसके अनुसार यह मासिक "विद्या, नाटक, समाचारवली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसम्बन्धी इत्यादि विषय में" प्रकाशित करता था (चित्रः 02)। हमें इसके राष्ट्र निर्माण का उद्देश्य भी निम्न पदों से ज्ञात होता है :

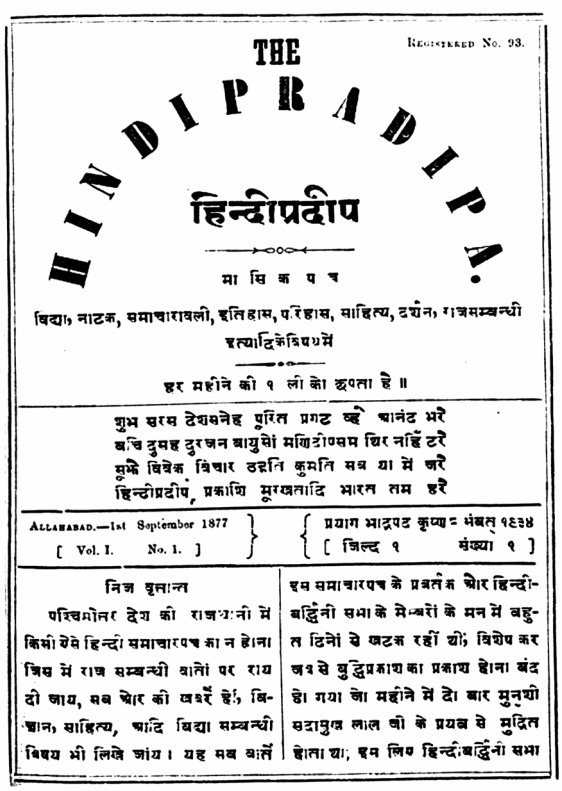

THE HINDI PRADIPA.

Registered No. 93.

हिन्दीप्रदीप

मासिक पत्र

विद्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसम्बन्धी इत्यादिकेविषयमें

हर महीने की १ ली को छपता है ॥

शुभ सरस देशसनेह पूरित प्रगट ह्वै आनंद भरै
अति दुसह दुरजन आयुसों मणिदीपसम थिर नहिं टरै
मूर्खे विवेक विचार उन्नति कुमति सब या में जरै
हिन्दीप्रदीप, प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै

ALLAHABAD.—1st September 1877 [Vol. I. No. 1.]

{ प्रयाग भाद्रपद कृष्ण ८ संवत् १९३४ [जिल्द १ संख्या १]

निज वृत्तान्त

पश्चिमोत्तर देश की राजधानी में किसी ऐसे हिन्दी समाचारपत्र का न होना जिस में राज सम्बन्धी बातों पर राय दी जाय, सब ओर की खबरें हों, विज्ञान, साहित्य, आदि विद्या सम्बन्धी विषय भी लिखे जांय। यह सब बातें इस समाचारपत्र के प्रवर्तक और हिन्दी-बर्द्धिनी सभा के मेम्बरों के मन में बहुत दिनों से खटक रहीं थीं; विशेष कर अब से बुद्धिप्रकाश का प्रकाश होना बंद हो गया तो महीने में दो बार मुन्शी सदासुख लाल जी के प्रयत्न से मुद्रित होता था; इस लिए हिन्दी-बर्द्धिनी सभा

चित्र 02 : आवरण पृष्ठ, *हिंदी प्रदीप,* सितम्बर, 1877.

[14] मरियोला अफ्रीदी, "दि सर्च फार नेशनल आइडेंटीटी एज रिफ्लेक्टेड इन दि हिंदी प्रेस", मरियोला अफ्रीदी संपा., *लिटरेचर, लेंगुएज एंड मिडिया इन इण्डिया,* दिल्ली, मनोहर, 1992, पृष्ठ 221-267।

शुभ सरस देशसनेह पूरित प्रकट है आनंद भरै।
बचि दुसह दुर्जन वायु मो मणिदीपसमथिर नहिं टरै।।
सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब या में जरै।
हिन्दीप्रदीप प्रकाशि मुरखतादि भारत ताम हरै।।

यहाँ भी दृश्य की भाषा प्रकाश और अन्धकार (तम) के विरोधाभास के साथ आता है तो 'आनंद', 'विवेक विचार' के साथ जुड़ा हुआ है। कुल मिलाकर एक ऐसी दशा का उल्लेख हो रहा है जहां देश दयनीय अवस्था में निरीह भाव से है जिसका उद्धार होना जरुरी लग रहा है। यह इस समय कोई नयी बात तो थी नहीं। ऊपर जिस कजली का जिक्र मैंने किया है वह भी सीधे-सीधे इसी अवस्था की तरफ इशारा कर रही है। लेकिन साथ ही कजली यह भी तो कह रही है कि

"नगर नगर सब गलिन में घुमले छेकल आय दुआर।
डगर डगर में चिपकल कगजवा देखहु नैन पसार।। टिक्कस ला।"

किस तरह का दृश्य, किस तरह के शहर की दीवार यहाँ है और यह हमसे किस तरह की व्याख्या, किस इतिहास की मांग करती है? ख़ैर, जो बहुत साफ है यहाँ, वह है अंग्रेजी सरकार की कड़े शब्दों में आलोचना, धिक्कार का भाव लिए हुए। एक लेख का शीर्षक है: "अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान कैसे फतह किया और कैसे इसका शासन करते हैं"।[15] *हिंदी प्रदीप* के बहुतेरे लेखों, नाटकों, व्यंग्यों और कविताओं में भारत के साथ एक देवी का भाव जुड़ा साफ ही दिखता है जिसकी वृहत्त पुनरावृत्ति आगे आने वाले समय में हम पाते हैं और जिसके संबंध में इतिहासकारों ने हाल के दशक में बहुत कुछ लिखा भी है।[16]

---

[15] *हिन्दी प्रदीप,* अक्टूबर 1885, पृष्ठ 13.

[16] खास तौर पर देखें 'मलार' ('आरत भारत तेरी सुनियो'), *हिन्दी प्रदीप,* जुलाई 1889, पर. 15; 'सवैया' पंडित सरयू प्रसाद मिश्रा की कविता से, *हिन्दी प्रदीप,* मई 1879, पृष्ठ 10। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी में राष्ट्र का नारी देह के रुप में अभिव्यक्ति के इतिहास और राजनीति के उपर लिखे गए उल्लेखनीय अध्ययन के लिए देखें: इंदिरा चौधरी, *फ्रेल हीरो एंड विराइल हिस्ट्री,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998; सोगता बोस, "नेशन एज मदर : रिप्रेजेंटेशन्स कन्तेस्टेशनस ऑफ 'इण्डिया' इन बंगाली लिटरेचर एंड कल्चर", सोगता बोस और आयसा जलाल संपा. *नेशनलिज्म एंड डेवलपमेंट : स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999,

हिंदी प्रदीप में श्रीधर पाठक का लंबा काव्य, 'भारतश्री (प्रवाशिनी)' और राधाचरण गोस्वामी का अनुवाद 'भारतवर्ष में यवन लोग' भारत के इस नारी देह के विस्तृत वर्णन के लिए विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं।[17] ख़ैर, यहाँ इस लेख में मैं राष्ट्र के इस नारी देह की बात नहीं करते हुए देखने-दिखाने के वृतों पर ही ध्यानस्थ रहने की कोशिश करुंगा।

IV

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध भारत के इतिहास लेखन में राष्ट्रवाद और उपनिवेशवाद के लिए एक महत्त्वपूर्ण दौर रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में यह समय कई ऐसी घटनाओं का साक्षी रहा है जिसने आने वाले समय को परिभाषित किया। 1857 की क्रान्ति, ईस्ट इण्डिया कंपनी से क्राउन में सत्ता का हस्तांतरण आदि। जैसाकि बर्नार्ड कोहेन लिखते है, 'अगले दो दशकों में सत्ता का एक सिद्धांत सूत्रबद्ध हुआ जो भारतीय समाज के समूहों के प्रॉपर आर्डरिंग और उनका ब्रिटिश शासकों के साथ के संबंधों को तय करने के विचारों और अवधारणाओं के ऊपर टिका था'। इस तरह कोहेन के अनुसार 1857, 1858, 1876, 1877 जैसी

पृ. 50-75; जसोधरा बागची, "रिप्रेजेंटिंग नेशनलिज्म : आईडियोलॉजी ऑफ मदरहुड इन कोलोनियल बंगाल", *इकॉनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 20-27 अक्टूबर, 1990, पृ. 65-71; मनु गोस्वामी, *प्रोड्युसिंग इण्डिया : फ्रॉम कोलोनिअल इकोनोमी टू नेशनल स्पेस*, दिल्ली, परमानेंट ब्लैक, 2004; सुमथि रामास्वामी, *द गॉडेस एंड द नेशन : मैपिंग मदर इण्डिया*, दुरहम एंड लंदन, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, 2010; सदन झा, "लाइफ एंड टाइम्स ऑफ मदर इण्डिया", *मानुषी*, 142, मई-जून 2004, पृष्ठ 34-38।

[17] "भारतवर्ष में यवन लोग" के विज्ञापन में राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं कि वांग भाषा में "भारत माता" और "भारत यवन" यह दो रूपक हैं। "भारत माता" और "भारत जननी" के कुछ अंश "हरिश्चंद्र चन्द्रिका" और "कविवचन सुधा" में प्रकाश (?) हो चुका है। "भारत यवन का अब मैंने अनुवाद किया है। ...इसके पढने में देशवासियों को लज्जा होगी, यह मैं अवश्य कह सकता हूँ, किन्तु जी नहीं मानता। भारत वासियों को स्वदेश के विषय में लज्जा हो, इसमें दृढ़ विश्वास नहीं होता... यह रुपक अंग्रेजी राज्य के दो तीन सौ वर्ष पूर्ववर्ती प्रजापीड़क मुसलमानों के राज्य की घटना का अवलम्ब करके लिखा गया है। मुसलमान महाशय इसमें बुरा न माने क्योंकि यह उन लोगों की वीरता और हमलोगों की भीरुता का पूर्ण दर्शक है"। *हिंदी प्रदीप*, मार्च 1879, पृष्ठ 2. यहाँ मुसलमान को 'उन लोगों' और मध्यकाल को एक हीन भावना से जिस तरह लिखा गया है स्वतः स्पष्ट है। श्रीधर पाठक कृत भारत श्री प्रवासिनी, *हिंदी प्रदीप*, अक्टूबर 1885, पृष्ठ 13।

घटनाओं के क्रम ने एक 'सांस्कृतिक सांकेतिक संविधान' का सूत्रीकरण किया या दूसरे शब्दों में कहें तो आने वाले समय के लिए एक तरह की राजनैतिक भाषा गढ़ी।[18] यद्यपि कोहेन ने पूरा ध्यान ब्रिटिश द्वारा इस अथॉरिटी के संरचना और उसके रिप्रेजेंटेशन पर लगाया लेकिन यह भी सुझाते हैं कि जब भारतीय अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के शुरुआती वर्षों में राजनीतिक अभिव्यक्ति का विकास कर रहे थे और इसके लिए इडियम गढ़ रहे थे तो उन्होंने उसे ब्रिटिश शासकों के तर्ज पर ही ऐसा किया। कोहेन के अनुसार यह नाता 1920 में महात्मा गांधी के आने बाद ही टूटा।

यद्यपि, इस लेख में मेरा प्रयोजन कोहेन के विचारों का खंडन मनन नहीं है। उन्होंने एक खास सन्दर्भ में इस सांस्कृतिक-सांकेतिक सूत्र की बात कही है जिसे उस सन्दर्भ से बाहर ले जाकर इस्तेमाल करना और फिर उनकी आलोचना करना उचित तो नहीं होगा। मैं उनसे अंतर्दृष्टि लेते हुए उसी ऐतिहासिक काल खंड के फ्रेम को कुछ नए साक्ष्यों, भिन्न विषयों को नये सवालों और नए नजरिये से आंकने का प्रयास करुंगा।

लेकिन आगे बढ़ने से पहले, कुछ स्पष्टीकरण अनिवार्य हो जाता है। पहला तो इस आलेख के काल-खंड के संबंध में। यहाँ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर 1920 तक के एक बहुत बड़े काल को चुना गया है। इसका अर्थ कतई यह नहीं की इस काल खंड को एकीकृत तरीके से देखा जा सकता है जब राजनैतिक, सामाजिक रूप से इसे एक ऐतिहासिक काल की संज्ञा से नवाजा जा सके। राजनैतिक धरातल पर यदि देखा जाय तो 1858 (जब सत्ता ईस्ट इण्डिया कंपनी से हटकर साम्राज्ञी के हाथों में आ गयी थी) से 1885 (कांग्रेस की स्थापना) को भारत के इतिहासकार किसी समय एक काल-खंड के रुप में देखते

[18] कोहेन ने सांस्कृतिक सांकेतिक संविधान का जुमला रोनाल्ड इंडेन से लिया है जो इसको परिभाषित करने के लिए वर्गीकरण के स्कीम, वस्तुओं के कार्यप्रणाली संबंधित अवधारणायें, कोस्मोलोजीस, संसार-दृष्टि, नैतिक सिस्टम, कानूनी सूत्र, सरकारी यूनिट्स की परिभाषायें, सामाजिक समूहों की परिभाषायें, विचारधारायें, धार्मिक डाक्टरिन, मिथकें, कर्मकांड, प्रणालियाँ और आचरण के तौर तरीके को इसके अंतर्गत लाते हैं। कोहेन, पहले उल्लिखित, पृष्ठ 646।

थे। इसी तरह 1885 से 1905-06 (बंगाल विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन) के बीच को खास तरह से व्याख्यायित किया जाता रहा। स्वदेशी और असहयोग आन्दोलन और 1920 तक आते आते महात्मा गांधी द्वारा कांग्रेस के पुनर्गठन और राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन में परिवर्तित करने के बीच के समय को भी एक राजनैतिक चरण के रुप में सुविधानुसार राजनैतिक इतिहासकार आंकते रहे हैं।

इस संकीर्ण राजनैतिक चश्मे को हटाकर यदि साहित्य, प्रिंट और फोटोग्राफी जैसे क्षेत्र की बात करें (जिनसे हम यहाँ इस अध्ययन में रुबरु हैं) तो यह कालक्रम और भी बेमानी लगता है। 1850 के बाद भारत में इन तीनो ही क्षेत्रों में बहुत तेजी से गतिविधियाँ मिलती हैं और आने वाले हर एक दशक में हमें परिस्थितियाँ बदलती दिखाई देने लगती है जिसके बारे में इस लेख में हमें आगे विस्तार से चर्चा करने का अवसर मिलेगा। ऐसे में यह सवाल सहज ही उठता है कि हम क्योंकर इस बड़े काल-खंड को अपने अध्ययन के लिए चुन रहे हैं? प्रति उत्तर में कहा जा सकता है कि यहाँ काल-क्रम की दृष्टि से एक माइक्रो-इतिहास का नजरिया चुना गया है।

इतिहास की अधिक प्रचलित नजरिये माइक्रो-इतिहास की तुलना में यहाँ उद्देश्य भिन्न है। यह लेख उस समय की एकीकृत व्याख्या करने से बचते हुए, कुछ सवाल उठाता है और देखने की इतिहास को तिथि क्रम-बद्ध व्याख्यायित करने की अपेक्षा इकट्ठी की गयी सामग्री के बरक्स आंकने का जिम्मा उठाता है। यहाँ इस विशाल काल खंड में समय और साक्ष्यों के सभी तार एक दूसरे से जुड़े हुए नहीं है। यह न तो संभव है और न ही इच्छित।

दूसरा स्पष्टीकरण शीर्षक में इस्तेमाल किये गए शब्द 'देवनागरी जगत' के सम्बन्ध में है। मैंने यहाँ हिंदी या हिन्दुस्तानी साहित्य के स्थान पर (जो भाषाई धरातल की ओर ले जाता है और जिस भाषाई परिप्रेक्ष्य से इस समय के साहित्य के इतिहासकार देखने के आदी हैं) एक लिपिगत नजरिया चुना है तथा देवनागरी जगत की बात की है। ऐसा करने के पीछे मेरी मंशा हिंदी-उर्दू के उस विवाद से बच निकलने की कतई नहीं है जिसने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के मानिंद इतिहासकारों का ध्यान

खींचा है।[19] इसके ठीक विपरीत मेरा यह मानना है कि लिपिगत दृष्टिकोण साक्ष्यों के अंदाज से भाषा की तुलना में अधिक उपयुक्त लगता है। जैसा कि मैंने ऊपर भी जिक्र किया है और अन्य विद्वानों ने भी दिखाया है कि जुबान के स्तर पर भाषाई वार्तालाप कुछ इस कदर घुला-मिला हुआ था कि हिंदी, हिंदवी, उर्दू और हिन्दुस्तानी को पृथक-पृथक कर परिभाषित करना उस समय के लिए बेमानी होगा। यह सही है कि नागरी आन्दोलन ने इस पृथकीकरण में अहम् भूमिका अदा की और हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषा के रुप में संयोजित तरीके से और संस्थानिक रुप में परिभाषित करने की मुहिम बहुत हद तक सफल भी रही। लेकिन क्या इतिहास अपने साक्ष्यों के बरक्स आन्दोलन का, उसमें जुड़ी संस्थाओं वाला नजरिया ही अपनाए, या फिर, उसी फ्रेम में बंधा रहे और इस सवाल के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहे कि क्या हिंदी-उर्दू दो भाषाएँ थी या फिर वे एक ही थाती की अभिव्यक्ति थी जिनके सबंध ऐतिहासिक रुप में परिवर्तनशील रहे हैं? जब जुबान के स्तर पर अलगाव करना मुश्किल था तो क्या यह उचित होगा कि हम परवर्ती सामाजिक, भाषाई और राजनैतिक सवालों के आइने, ऐतिहासिक साक्ष्यों को परखने के लिए आयात करें? यदि व्यावहारिक तकाजे से बात करें, तो जहां एक ओर जुबान एक दूसरे से घुली-मिली थी, लिपियाँ अपने स्वरुप के कारण स्वतः ही भिन्न भिन्न रही हैं। यहाँ देवनागरी के साक्ष्य अन्य लिपियों की तुलना में स्वतः ही परिभाषित हैं। यह कहा जा सकता है कि देवनागरी का आर्काइव स्वतः ही परिभाषित है।[20] लेकिन इसका यह मतलब नहीं निकाला

---

[19] हिंदी उर्दू विवाद के लिए देखें क्रिस्टोफर किंग, *वन लेंगुएज टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाइंटीन्थ सेंचुरी नार्थ इण्डिया*, बम्बई, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994

[20] लगे हाथ यह स्पष्टीकरण भी दे दिया जाय कि देवनागरी साहित्य के सन्दर्भ में भी इस लेख का फलक बहुत सिमटा हुआ ही है जैसे संस्कृत के प्रिंट साहित्य के संबंध में यह आलेख पूरा मौन है। यही बात कुछ अन्य देवनागरी साहित्य के संबंध में भी लागू होती है। यह कहना गलत नहीं होगा की यह आलेख देवनागरी में लिखे उस साहित्य की और उन्मुख है जिसे मोटे तौर पर हिंदी या हिन्दुस्तानी नाम से जाना जाता है। यह जहां एक लेख की सीमा माना जा सकता है वहीं यह ताकीद भी करता है कि देवनागरी के आर्काइव को सुलभ या सरलीकृत तरीके से नहीं आंका जा सकता है और देवनागरी को हिंदी, हिंदवी या हिन्दुस्तानी के समानार्थी के तौर पर ही देखने के अपने खतरे हो सकते हैं। साथ में एक बड़ा खतरा इस बात का बना रहता है कि देवनागरी को आधार बनाते हुए कहीं जाने अनजाने हम उसी राजनीति का शिकार तो नहीं हो जाते जिसे नागरी प्रचारणी सभा और भारतेंदु

जाना चाहिए कि यह आर्काइव असंपृक्त (isolated) है या फिर देवनागरी लिपि उस लिपि के साथ संवाद नहीं कर रही थी जिसे उर्दू, फारसी, अरबी या पंजाबी के रूप से हम जानते आये हैं। ऐसे अनेक साक्ष्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें दोनों लिपियों को हम पाते हैं। और यह परम्परा बहुत हाल तक कायम भी रही है (कम से कम जन संस्कृति के एक अहम् क्षेत्र, हिंदी सिनेमा के पोस्टर पर तो ऐसा हाल तक देखने में मिलता है)। यदि चर्चागत काल की बात करें तो किस्सा के एक किताब *शुक बहत्तरी* का आवरण पृष्ठ ऐसी ही गवाही देता हैं (चित्र 03) पर, क्या आर्काइव की आभासीय सहज उपलब्धता ही इतिहासकार के लिए विषय के चुनाव और उसके दृष्टिकोण के निर्धारक कारण बनें? व्यावहारिकता क्योंकर ज्ञान की निर्मितियों का आधार तय करे? इस प्रति–प्रश्न का कोई एक ठोस उत्तर देना यहाँ मुश्किल भी है और शायद इस लेख के लिए विषयांतर भी हो। एक आसान उत्तर, इस लेख के सन्दर्भ में यह है कि चूंकि इस लेख का मूल प्रश्न देखना और दिखाना है तो यह लाजिमी हो जाता है कि साक्ष्य का आधार भी वही हो। भाषा जिस तरह दिखती है और पाठकों के सामने जिस रूप में परोसी जाती है उस इस धरातल पर लिपि अहम् हो जाती है। जमीनी स्तर से बात करें तो लिपि के द्वारा ही हम किसी जुबान को छपे प्रारूपों में पढ़ते हैं, देखते हैं। आँखों पर हो रहे लिपियों के दावे को स्वांग का रूप भी दिया गया। जब बेगम उर्दू और रानी देवनागरी के बीच के नोक झोंक में गहरे साम्प्रदायिक राजनीति को अनूठे दृश्यगत तरीके से प्रस्तुत किया गया। रानी देवनागरी बनाम बेगम उर्दू, पंडित गौरी दत्ता मेरठ के, इस स्वांग को सरस्वती (1910) ने भी चित्रांकित कर प्रकाशित किया। यहाँ संवाद के जरिये हिंदी स्वयं को उर्दू की माता के रूप में प्रस्तुत करती है ('मेरी तो माता की आत्मा ठहरी: मैं तो आसीस ही दूँगी')[21] यह उदाहरण हमें भाषाओं की देह्मय प्रस्तुति की ओर भी ले जाता है

जैसे विद्वान कर रहे थे। एक वैकल्पिक दृष्टिकोण और आर्काइव के इन खतरों को नजर अंदाज या खारिज नहीं किया जा सकता है लेकिन ये खतरे नये रास्ते पर चलने के लिए उठाने ही होंगे।

[21] साभार क्रिस्टोफर किंग, फोर्जिंग अ न्यू लिन्गुइस्तिक आइडेंटिटी इन बनारस, 1868–1914", संद्रिया बी. फ्रीटेग संपा. *कल्चर एंड पावर इन बनारस: कम्युनिटी, परफोर्मेंस एंड एनवायरनमेंट,* 1800–1980, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1989, पृ. 179–202 यहाँ पृष्ठ 180।

जिसके विषय में तमिल के सन्दर्भ में सुमथि रामास्वामी ने विस्तार से लिखा है।[22]

चित्र 03 : आवरण पृष्ठ, *शुक बहत्तरी,* नागरी और पारसी दोनों लिपियाँ दिखाई दे रही है लेकिन यहाँ नागरी की प्रमुखता सहज ही प्रतीत हो रही है। मुरारीलाल देहली में छपी संवत १८३१ आषाढ़ शुदी (प्रायः 1874)। British Library] VT1092.

V

जैसा कि ऊपर के *शुक बहत्तरी* के आवरण पृष्ठ और पहले उद्धृत फ्रांचेस्का ओर्सीनी के वक्तव्यों से जाहिर होता है कि इस दौर में लिपियों का मिलाप या किसी किताब में आवागमन बहुत अनोखा नहीं था। कहने का मतलब यह कि देवनागरी और उर्दू लिपियाँ साथ-साथ किसी प्रिंट साहित्य में देखी जा सकती थी। साहित्य के

[22] देखें सुमाथि रामास्वामी, *पैसंस ऑफ द टंग : लैंगुएज डिवोशन इन तमिल इण्डिया 1891-1970,* वर्केले, लॉस एजेंल्स, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 1997।

प्रारुपों का एक से दूसरे में प्रवाह भी बहुत था। और एक विधा दूसरे को प्रभावित भी कर रही थी। जैसे भजन, लावनी और शायरी की दुनिया एक-दूसरे से किस तरह संवाद कर रही थी इसका अच्छा उदाहरण मशहूर नाटककार राधेश्याम कथावाचक (जन्म 1890, बरेली) के नीचे दिए गए अनुभव से किया जा सकता है:

> "मेरे शरीर की अवस्था उन दिनों लगभग आठ वर्ष की थी। हिंदी मतलब लायक पढ़ ही चुका था, पढ़ी तो उतनी ही उर्दू भी थी। पिताजी कभी-कभी 'भजन' आदि बनाने की कविता भी किया करते थे। 'लावनी गाने वालों 'को शायरी का चस्का होता ही है। मेरी तबियत भी उधर रुजू हुई। सबसे पहला गीत मैंने 'दही वाली का तौर दिखाना' के वजन पर बनाया–'करो कृपा गुरु महाराज'...।
>
> 'न्यू अल्फ्रेड' के गाने बरेली के सभी गायक गाया करते थे। मैंने उनसे सुन-सुनकर वे सब तर्जें याद कर ली। कंपनी अपने नाटकों के 'गाने' छपवाकर बेचा करती थी। उसकी किताबें भी मैंने इधर-उधर से लेकर इकट्ठी कर ली। 'नाटक के गानों की तर्जों पर उपदेशप्रद या श्रीराम, श्री कृष्ण-सम्बन्धी बोल बनाकर गाने का मेरा शौक तब बढ़ा और बढ़ता ही गया। वैसे गाने 'श्री राधेश्याम-विलास' और 'श्रीराधेश्याम कीर्तन' नामावली मेरी पुस्तकों के पाठक देख और पढ़ सकते हैं। मेरी रामायण (राधेश्याम रामायण) में भी ऐसे गानों की कमी नहीं है। आगे चलकर तो मैं खुद ही 'तर्जें' बनाने लगा–जिन्हें लिखने की यह जगह नहीं"।[23]

कथावाचक आगे एक और दिलचस्प उदाहरण देते है जब वे अपने आनंद भवन से जुड़े अनुभव लिखते है जहाँ उनके अनुसार विजयलक्ष्मी पंडित को उनके गाने बहुत पसंद थे। "उन्हें मेरा एक गाना बहुत पसंद था–अपार तेरी माया, माया है तेरी अपार (नाटक की तर्ज पर बना हुआ – 'निसार तेरे नखरे, नाजो अदा पर निसार')"।[24] साहित्य, लिपियों के अलावा दृश्य जगत में भी विभिन्न रजिस्टरों रुपकों, विषयों और सरोकारों

---

[23] पंडित राधेश्याम कथावाचक, *मेरा नाटक काल,* दिल्ली, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, 2004: 21।

[24] वही, पृष्ठ 27।

के बीच ख़ूब संवाद थे जिन्हें क्रिस्टोफर पिन्नी ने 'इंटर ओक्युलरीटी (inter-ocularity) 'या विजुअल ट्रैफिक कहा है और एक अन्य सन्दर्भ में जो प्रतिबिम्बों के प्रवाह की गूढ़ संरचना ('deeper structure of representational flows') तथा 'विजुअल अर्थव्यवस्था' की बात करते हैं।[25] हाल के दशक में अनेकों विद्वानों ने मोहक चित्रमय जगत की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। इससे अरसे से चली आ रही अक्षर केन्द्रित इतिहास लेखन में नयी ताजगी भी आई है और भारत में इतिहास लेखन को लिखित और श्रुत के अतिरिक्त एक और सहोदर चित्र आर्काइव का समृद्ध और संभावनाओं से परिपूर्ण भण्डार भी सामने आया है। लेकिन यह इतिहास लेखन दूसरी तरफ अक्षर को सिरे से नजर अंदाज भी करता है। यहाँ चित्र और अक्षर की भाषा के बीच का संवाद गायब है। ऐसे में यह सवाल लाजिमी हो जाता है कि क्या इस नए वैकल्पिक आर्काइव की सत्ता अपने में सम्पूर्ण मानी जाय? क्या चित्रमय जगत सम्प्रेषण के अन्य स्थापित तरीकों जैसे लिखित साहित्य से असम्पृक्त होकर व्यवहार कर रहे थे? कहीं हम एक वैकल्पिक आर्काइव को गढ़ने के जोश में अक्षर देह के स्थापित थाती को इतिहास लेखन के क्रम में कम तरजीह तो नहीं देने लग गए? सवाल यह भी कि इस चित्रमय जगत में वर्नाकुलर साहित्य की क्या और किस तरह की हिस्सेदारी है? क्या एक (चित्रमय जगत) को हम दूसरे के (अक्षर के देह) बगैर भी इतिहास में आंक सकते हैं? इन दोनों के बीच के सम्बन्ध की जटिलता को कुछ हद तक व्याख्यायित करना ही इस लेख का उद्देश्य है। इस जटिलता के एक छोटे अंश से वाकिफ कराने के लिए उस लेख का हवाला दिया जा सकता है जो 'चित्र दर्शन' शीर्षक से *हिंदी प्रदीप* में प्रकाशित हुआ था। लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र की प्रशंसा में लिखा गया था तो जाहिर सी बात है कि *हिंदी प्रदीप* के सम्पादक बालकृष्ण भट्ट जो खुद भी हरिश्चंद्र के मुरीद थे इसे जरुर ही छापते। यह लेख चित्रों के एक एल्बम को देखने के क्रम में आती बेचैनी से शुरु होती है। इसी क्रम में लेखक एक अद्भुत पोर्ट्रेट से रुबरु होता है। बाद में उसके स्वप्न में साक्षात् देवी सरस्वती का आगमन होता

[25] देखें क्रिस्टोफर पिन्नी, *कैमरा इंडिका : द सोशल लाइफ ऑफ इन्डियन फोटोग्राफी,* शिकागो, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997। साथ ही देखें क्रिस्टोफर पिन्नी, "भूमिका: पब्लिक, पोपुलर, एंड अदर कल्चर्स", रेचल डॉयर और क्रिस्टोफर पिन्नी संपा. *प्लेजर एंड द नेशन, द हिस्ट्री, पोलिटिक्स एंड कन्जम्प्शंस ऑफ पोपुलर कल्चर इन इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001, पृष्ठ 1–34।

है जो बताती हैं कि वह चित्र किसी और का नहीं बल्कि भारतेंदु हरिश्चंद्र का है।[26]

यहाँ चित्र भी हैं, चित्रों के संग्रह के सर्कुलेशन की बात भी है। लेकिन साथ ही सपना, सपने में सरस्वती का आगमन और स्वयं सरस्वती द्वारा चित्र की पहचान है जिससे चित्र का अर्थ उसका इंडेक्स-लिटी किसी अन्य रेफरेंस से न होकर एक दैवीय इंटरवेंशन से तय हो रहा है। और यह सब हमें अक्षर जनित साहित्य के द्वारा परोसा जा रहा है। यदि एक वाक्य में कहें तो यहाँ चित्र भी है और चित्र के परे वह सपनों का संसार भी है जहां दृश्यमय जगत के तार बुने जा रहे हैं। चित्रमय (pictorial) और दृश्यमय (अपेनंस) के बीच का यह अन्तर मानीखेज हो सकता है। जहां चित्रमय एक किस्म के साकार बिम्बजनित अभिव्यक्ति (representational register) की ओर हमें ले जाते हैं वहीं सपना और सरस्वती का आगमन एक अनुभव है। इन दोनों के बीच इस संबंध को कैसे आंका जाय?

यहाँ इस लेख में, मैं अक्षर, चित्र और दृश्य के बीच के संबंधों की जटिलता से जुड़े दो अहम् सवाल उठाने का प्रयास करूंगा जो इस काल के कला के इतिहास और चित्रगत तकनीक और चित्र संस्कृति से जुड़े लेखन में छूट सा गया हैः पहला, देवनागरी जगत में चित्रों के साथ क्या हो रहा है? और दूसरा, देवनागरी के साहित्य में या फिर व्यापक स्तर पर भी पूरे विमर्श में चित्र और अक्षर के बीच क्या संबंध रहा है?[27] प्रस्तुत लेख में मैं इन सवालों को तीन स्तरों पर आंकने का प्रयास करूंगाः अ. देवनागरी जगत में चित्र ब. चित्र और देखने से जुड़ा हुआ लिखा हुआ साहित्य और स. देखने

---

[26] देखें "चित्र दर्शन", *हिंदी प्रदीप,* मई-जून 1896, पृष्ठ 14।

[27] इस काल के कला के इतिहास के समग्रता से अध्ययन में सहायक शोधो के लिए देखें, तपती गुहा ठाकुरता, *द मेकिंग ऑफ अ न्यू 'इन्डियन' आर्टः आर्टिस्ट्स, एइस्थेटिक्स एंड नेशनलिज्म इन बंगाल, सी. 1850-1920*, कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992; पार्थ मित्तर, *आर्ट एंड नेशनलिज्म इन कोलोनियल इण्डिया 1850-1922: ओक्सिदेंटल ओरिएंटेशनस,* कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994। मेरे द्वारा इस लेख में कालखंड के चुनाव के पीछे इन दो महत्वपूर्ण किताबों का योगदान रहा है। जबकि इन किताबों के संयोजक आधारों और मेरे अध्ययन के मूल के बीच एक बड़ी दूरी भी पाठकों को दिख ही जाएगी।

का व्यापक विमर्श क्या है: कैसे देखने को जानने या ज्ञान के विमर्श से जोड़कर विद्वानों ने विश्लेषित किया है और इस विमर्श का आधुनिकता से क्या नाता रहा है। यह प्रश्न हमें भारतीय परिस्थितियों में देखने के एक अन्य पक्ष की तरफ ले जाएगा जहां धर्म, विश्वास और सांस्कृतिक ऐतिहासिक विशिष्टतायें हमें देखने के बहुलता (heterogeneity) की तरफ हमें ले जाते हैं।

चित्र 04 : *तिथिपत्रिका लाहौर*, ई. 1868 (संवत 1925) छापेखाने मित्रविलास लाहौर में पंडित मुकुन्दराम मलिक के अधिकार से कृत प्रसुंद मिश्र की यंत्री में छपी।

VI

जैसा कि मैंने ऊपर भी इंगित किया, उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध प्रिंट साहित्य के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी फैलाव के साथ आया। न मात्र बड़े पैमाने पर किताबों की प्रतियाँ निकाली जाने लगी बल्कि छपने वाली किताबें भिन्न-भिन्न और बहुतेरे विषयों को भी संबोधित कर रही थी। इस साहित्य में ढोला मारू, बैताल पचीसी, आल्हा-उदल से लेकर स्कूल में पढ़ने के लिए विभिन्न विषयों यथा भूगोल, इतिहास, गणित, खगोल, कृषि विज्ञान आदि की पुस्तकें, कृषि ज्ञान से जुड़ी (जैसे मौलवी निजामुद्दीन की उर्दू *किमियाजिराअत* से सुगम हिन्दी भाषा में उल्था किया *कृषि कर्म सुधारना*, नागपुर, 1874; पंडित वंशीधर द्वारा *पन्दनामह काश्त्कारान* से तर्जुमा किया हुआ *किसनोपदेश* जो गवर्नमेंट के छापेखाने, इलाहाबाद, से 1870 में छपा था और जिसका तीसरा संस्करण भी 5000 पुस्तकों का निकला था आदि आदि), खेत नाप, लोकोक्तियों के ऊपर, औषधियों और स्वास्थ्य से संबंधित विषयों का विशाल फैलाव समाहित

था। इस साहित्य को सरसरी तौर पर अध्ययन करने से यह लगता है कि स्कूल की शिक्षा के लिहाज से छपी किताबें जैसे भूगोल और इतिहास आदि के संस्करण और प्रतियां अन्य किसी पुस्तकों की तुलना में बहुत अधिक हुआ करती थी (*'जगद भूगोल'* का 1865 में पाचवां संस्करण 2000 प्रतियों का निकला था; बालकृष्ण खंडेकर की भूगोल विधा 1860 में 10000 प्रतियों की और *हिन्दुस्थान के मध्यप्रदेश का भूगोल* जिसे नरसिंहपुर जिले की पाठशालाओं के इंस्पेक्टर मुंशी डोरी लाल ने कई अंग्रेजी पुस्तकों का सार लेकर फिर से बनाया, बम्बई एजुकेशन सोसाइटी प्रेस से 10000 प्रतियों में 1866 में मुद्रित हुआ।

किस्से की किताबों में चित्रों का प्रयोग दूसरे प्रेस से छपे उसी किस्से की तुलना में दर्शकों को आकर्षित करने के लिए किया जाता रहा होगा (चित्र 05).

चित्र 05 : आवरण *बैताल पच्चीसीमअतसवीर,* अन्य संस्करण से भिन्नता के लिए और पाठकों को आकर्षित करने के लिए प्रचलित किस्सों के आवरण पर ही यह झलकाया जाता था कि भीतर के पन्नो पर तस्वीर के दर्शन भी होंगे। भाई लाला उमराओसिंह सोदागर कुतुब दहली बाजार दरीबा छापेखाने ज्ञान प्रेस में बंदहशीगो पाल के एहत्मासे छापी गई सं १८७३ ई.(1873).

साथ-ही-साथ इन किस्सों में भीतर के पन्नों पर भी कहानी के किसी रोचक दृश्य को चित्रांकित कर एक तरह से सचित्र उदाहरण दिया जाता था। गुणवत्ता की दृष्टि से ये चित्र अक्सर ही पुराने मिनिएचर शैली का बेरंग और निम्न स्तरीय मशीनी उत्पाद लगते हैं (चित्र 06 एंव 07)।

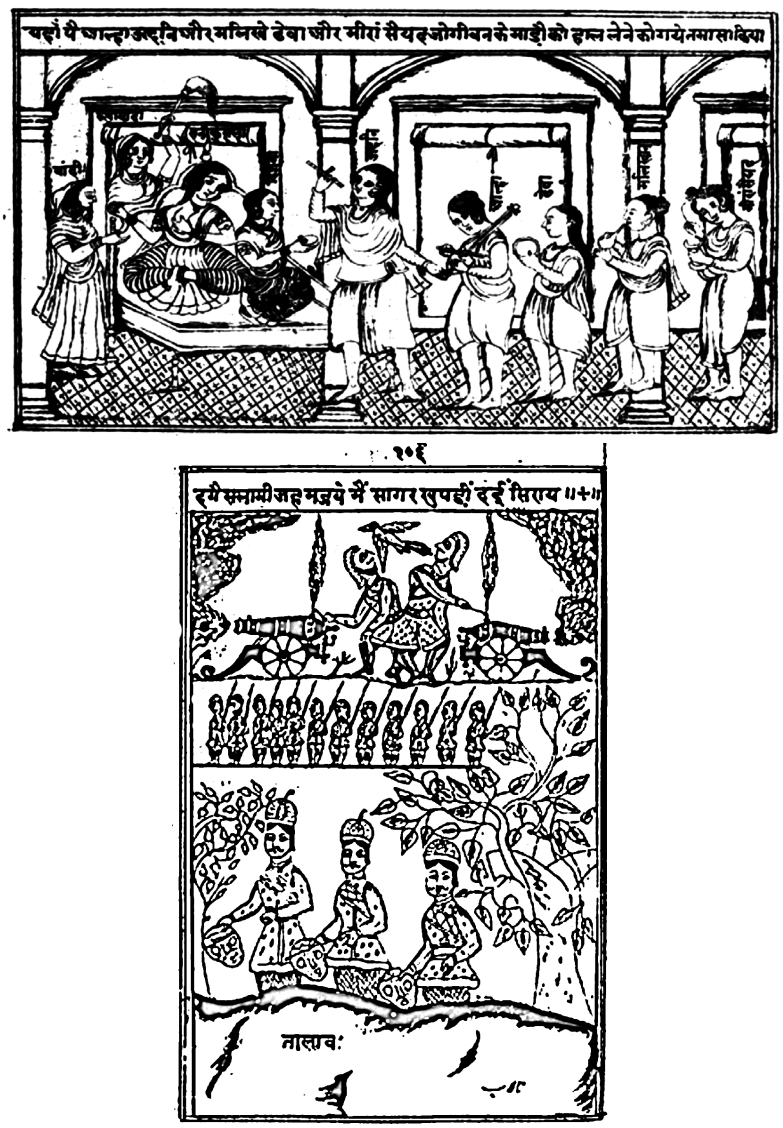

चित्र 06 एवं 07 : कहानी के किसी अंश को चित्रों के माध्यम से दिखाने का प्रयास। आल्हखंड, मनवै कंप फतैगढ़ में मुंशी राम स्वरुप के प्रबन्ध से छपा, 1881।

कमो-वेश यही उद्देश्य शिक्षा की किताबें या ज्योतिष भी कर रही थी–लिखे अक्षरों को सरलता से सुलभता से समझाने का काम (चित्र 08 एवं 09)।

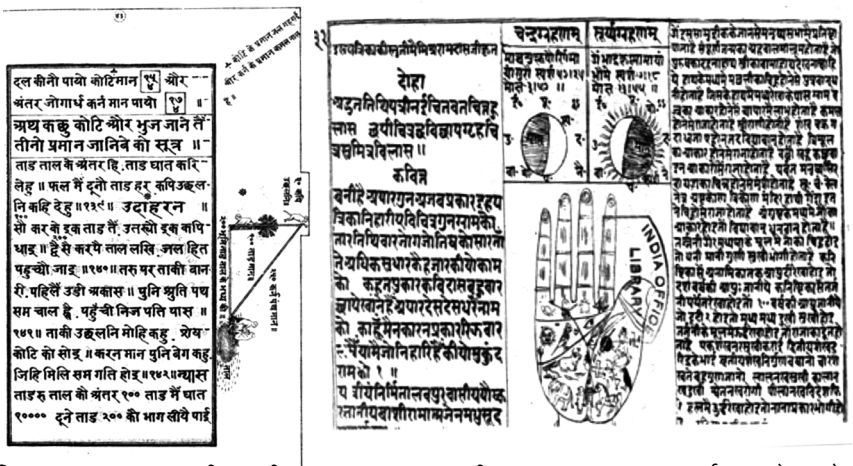

चित्र 08 एवं 09 : लीलावती, राजा डालचंद की आज्ञानुसार भाषा हुई उनके प्रपौत्र बाबू शिवप्रसाद की आज्ञानुसार छापी गई यंत्रालय सुल्तान हिन्द में पण्डित जोखूराम ने छापी बनारस सन् 1858। साथ में 'तिथिपत्रिका' (पहले उल्लिखित) का एक पृष्ठ।

गैर सरकारी छापेखाने की तुलना में गवर्नमेंट प्रेस के प्रिंट की गुणवत्ता और चित्रों कि कलात्मक प्रस्तुति भी सुरुचिपूर्ण प्रतीत होती है। यहाँ यह भी याद दिलाना जरुरी है कि प्रिंट तकनीक में बहुत तेजी से बदलाव आ रहे थे। इसलिए 1860 और 1870 के दशक में छपे साहित्य के चित्र 1880 के और 1890 के चित्रों के मुकाबले एक नजर में भद्दे भी दिखाई देते हैं। यद्यपि इन परवर्ती दशकों में भी देवनागरी जगत में शायद ऐसी कोई भी पत्र पत्रिका नहीं थी जो अपने सौन्दर्य बोध में *हिंदी पंच* (संस्थापक-संपादक बरजोरजी नौरोजी, बम्बई 1883 से शुरु (चित्र 10) या फिर कलकत्ता से प्रकाशित *बसंतक का समकक्षी* माना जा सके।[28] चित्रों के प्रिंटिंग और कलात्मकता में उत्कृष्टता देवनागरी

[28] देखें पार्थ मित्तर, *आर्ट एंड नेशनलिज्म इन कोलोनियल इण्डिया,* उपर उल्लिखित, पृष्ठ 138, पार्थ मित्तर, "कार्टून ऑफ द राज", *हिस्ट्री टूडे,* 47(9), 1997; रितु जी. खंडूरी, "वर्नाकुलर पंचेज : कार्टून्स एंड पोलिटिक्स एन कोलोनिअल इण्डिया", *हिस्ट्री एंड एन्थ्रोपोलोजी,* 20 (4), दिसंबर 2009: 459–486; अवध पंच और पारसी पंच लिए देखें मुशीरुल हसन, *विट एंड विजडम : पिकिंग्स फ्रॉम पारसी पंच,* दिल्ली, नियोगी बुक्स, 2012, मुशीरुल हसन, *द अवध पंच : विट एंड ह्यूमर इन कलोनियल नार्थ इण्डिया,* दिल्ली, नियोगी बुक्स, 2007।

INDIAN NATIONAL CONGRESS CARTOONS FROM THE "HINDI PUNCH."

MAKAR SANKRANT,—12TH JANUARY, 1889.

The Hindu Calendar this year exhibits the fierce goddess as riding a buffalo and proceeding northwards,—an ominous aspect for the "North," according to astrologers.

[*Hindi Punch, Jan., 1889.*]

चित्र 10 : मशहूर *द पंच और लन्दन सारीवारी (The Punch or London Charivari)* की तर्ज पर भारत में अलग-अलग जगहों से पांच किस्म के *पंच* प्रकाशित हुए। *हिंदी पंच* एक पाक्षिक हुआ करती थी और बाद में इसके वार्षिक अंक भी आने लगे। इसमें प्रकाशित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से जुड़ी कार्टूनों का भी संग्रहणीय अंक निकला था। ऊपर लिया गया कार्टून इसी संग्रह से है।

जगत में बीसवीं सदी में ही *सरस्वती* (1900 में इलाहाबाद से श्याम सुन्दर दास के सम्पादन में शुरू जिसमें 1903 से सम्पादन का भार महावीर प्रसाद द्विवेदी के जिम्मे आ गया) के बाद ही मिलता है। इस सन्दर्भ में अम्बिका प्रसाद मिश्र के संपादकत्व में निकलने वाली इंदु और बिहार एंजल प्रेस, भागलपुर से निकलने वाली *श्री कमला* के चित्र प्रशंसनीय हैं। चित्रों की यह यात्रा जारी रह सकती है और इसके बदलते आयामों पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है खासकर श्वेत श्याम से रंगीन के संक्रमण और छपाई की तकनीक को लेकर भी चर्चा की जा सकती है लेकिन इस आलेख की सीमा इसकी इजाजत नहीं देती है। अतः, इस सिलसिले को विराम देते हुए हम अपने विषय के दूसरे बिन्दु अर्थात देवनागरी जगत में उस साहित्य की ओर उन्मुख होंगे जो चित्रमय तो नहीं है लेकिन जो चित्रों के संबंध में है, जिससे चित्रों के अर्थव्यवस्था का सीधा-सीधा नाता है।

चित्र 11 : ''सन्ध्या तारा'', इंदु, 1911

सामयिक प्रकाशन, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

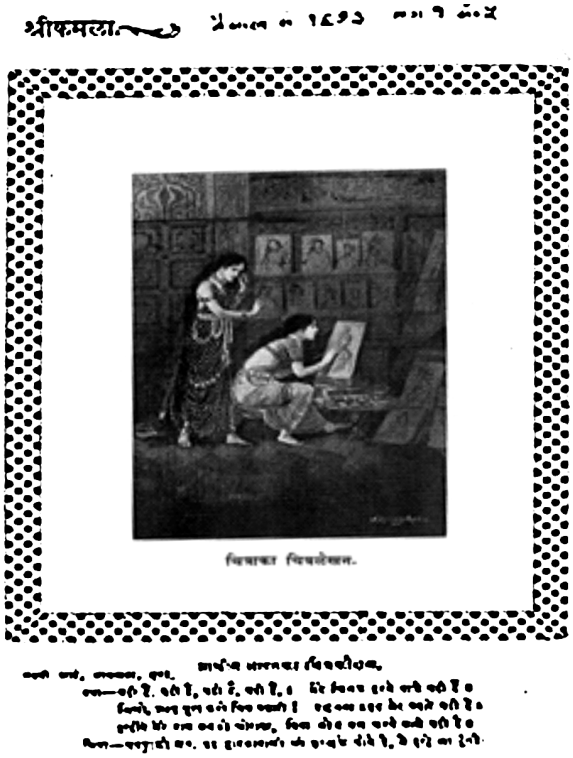

चित्र 11 एवं 12 : "संध्या तारा", इंदु, अम्बिका प्रसाद गुप्ता, संपादित, मासिक, खंड II (3, 4 एवं 5) बनारस, 10 जून 1911; "चित्रा का चित्र लेखन", *श्री कमला,* खंड 1 (5) 1913। श्री कमला का सौन्दर्य बोध बहुत कुछ मॉडर्न रिव्यू से मिलता जुलता है।

VII

इस मुद्दे पर हमने पहले दिए गए एक उद्धरण (भारतेन्दु के पोर्ट्रट के संदर्भ में) में देखा कि किस तरह चित्रों के अलबम बंट रहे थे और जिनके पन्नों से तस्वीरें निकल कर सपनों का हिस्सा बन रही थी, जहां स्वयं सरस्वती पोर्ट्रेट के चेहरे की पहचान के लिए आई। जाहिर सी बात है कि चित्रों का एक कमौडिटी के रूप में सर्कुलेशन 1890 के दशक आते-आते (जब हमें ऊपर दिए गए उद्धरण का लेख मिलता है) कोई नयी बात तो नहीं थी। 1839 में यूरोप डोग्यरटाइप (daguerreotype) कैमरे के आने के बाद (जिसे आधुनिक फोटोग्राफी की शुरुआत भी मानी जाती है), भारत में भी इसके प्रचार प्रसार में कोई

वक्त नहीं लगा। 1839 के दिसम्बर तक बॉम्बे टाइम्स इस विषय पर नये लेख प्रकाशित कर रहा था और जनवरी 1840 में कलकत्ता की फर्म ठेकर, स्पिंक एंड कंपनी डोग्यरटाईप कैमरे को बेचने का प्रचार भी कर रही थी।[29] अनेक फोटोग्राफी सोसायटी बने और 1850 के दशक के मध्य हम भारत में फोटोग्राफी का एक व्यस्त माहौल पाते हैं।

क्योंकि देवनागरी जगत को यहाँ एक भौगोलिक क्षेत्र विशेष के रुप में इस्तेमाल नहीं किया जा रहा इसलिए, यहाँ मेरा सरोकार यह दिखाना नहीं है कि कहाँ-कहाँ स्टूडियो थे, कौन से लोग फोटोग्राफी कर रहे थे और किस तरह के विषयों को कैमरे की आँख से देखा जा रहा था। हम इस तकनीक को लेकर, इसके उत्पाद को लेकर और इसके ज्ञान को लेकर देवनागरी जगत में भी एक उत्साह का मंजर देखते हैं। और सबसे महत्व की बात यह कि फोटोग्राफी सिर्फ बड़े शहरों की शुगल भर नहीं रह गयी थी। इसी उत्साह, ऐसे ही विस्तार से हमारा परिचय करवाता है।

> श्री बालदेव चित्र रत्नाकर अर्थात फोटोग्राफी की विचित्र पुस्तक (प्रथम और द्वितीय भाग) जिसको पंडित बलदेव प्रसाद शर्मा (तुलसीराम शर्मा आत्मज) स्थान धवाकर तहसील मऊ जिला झाँसी निवासी ने निज परीक्षित चित्रकारी सम्बन्धी बातें चुनकर स्वदेशीय सज्जनों के हितार्थ प्रकाशित की। इसमें वह बातें बताई गई हैं जो हर एक फोटोग्राफर को कठिन परिश्रम उठाने पर भी गुरुओं से पता नहीं चलती।
>
> जिस पुस्तक पर ग्रन्थकर्ता की मुहर न होगी वह चोरी की समझी जावैगी, पता देने से इनाम 10) रु मैडिकल प्रेस नाहर की पटरी, कानपुर में छपी
>
> प्रथम बार 1000. (सम्वत १६५५). 1898. मूल्य II) इस पुस्तक की रजिस्टरी कराई गई है किसी को छापने का अधिकार नहीं।
>
> **इत्तिला**
>
> हे प्रिय पाठकों आपको विदित होगा कि हमारे यहाँ काम फोटोग्राफी (चित्रकारी) का होता है जिन सज्जनों को अपनी तस्वीर उतरवाना

[29] क्रिस्टोफर पिन्नी, *द कमिंग ऑफ फोटोग्राफी इन इण्डिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2008, पृष्ठ 9।

हो उतरवा सकते हैं और जो सज्जन अपने मकान पर बुलाना चाहें वह अपने मकान पर बुलाकर तस्वीर (चित्र) उतरवा सकते हैं इसके सिवाय गृहस्थ पर्दानशीं स्त्रियों की भी तस्वीर उतारी जाती है जिन सज्जनों की इक्छा हो, आज्ञा प्रदान करैं।

हमारे यहाँ छोटी तस्वीर से बड़ी तस्वीर का भी काम होता है जिसको अंग्रेजी में इनलारजमेंट बोलते हैं। पता : बल्देवप्रसाद शर्मा फोटूग्राफर मऊ जिला झाँसी

नोट : 24 सफा में सोल्युशन नंबर २ में ब्रोमाइड आफ पोटाशियम २० ग्रेन और मिला दो।

4 भागों में मेरे तज़रबे में ठीक ठीक आई है, वे ही चार भागों में सविस्तार वर्णन की है।

१. नैगेटिव अर्थात कांच तैयार करना

२. पॉजिटिव

३. रिटच करने की प्रक्रिया अर्थात हाथ से कलम द्वारा तस्वीर को जहां तहां यथा योग्य स्वच्छ करना और इन्लार्जमेंट अर्थात छोटी तस्वीर को बड़ा करना और चतुर्थ में औजारों के बनाने की क्रिया आदि का वर्णन होगा।[30]

फोटो का एक कमोडिटी के रुप में सर्कुलेशन और इसके इर्द गिर्द सांस लेते अर्थव्यवस्था का अंदाज *हिंदी प्रदीप* के लेखों से भी चलता है जहां हमें "तस्वीरों के कलईदार चौखटे साफ करने की रीति", और "चौखटे पर फिर से कलई करने की रीति" की जानकारी सिखाई जा रही थी.[31] बहुत समय नहीं लगा जब इस फोटोग्राफ को उसके एक अहम् जिम्मेदारी (एक इंडेक्स के सामान कार्य करने के फोटो के मूल धर्म को धार्मिक प्रतीकों, किताबों और विश्वासों को ऐतिहासिक सिद्ध करने) के निर्वहन करने के लिए नियुक्त कर दिया गया (चित्र 13)।[32]

[30] पंडित बलदेव प्रसाद शर्मा, *बलदेव चित्र रत्नाकर,* कानपुर, 1898, ब्रिटिश लाइब्रेरी, लन्दन, 14156.e.20।

[31] *हिंदी प्रदीप,* 1 जनवरी 1889, पृष्ठ 21-22।

[32] फोटोग्राफ किस तरह एक इंडेक्स के रुप में काम करता है इस विषय पर अनेकों सिद्धान्तकारों ने लिखा है। इस विषय पर भारत के सन्दर्भ में अन्तःदृष्टि से परिपूर्ण चर्चा के लिए देखें क्रिस्टोफर पिन्नी, *द कमिंग ऑफ फोटोग्राफी इन इण्डिया,* पृष्ठ 3-5।

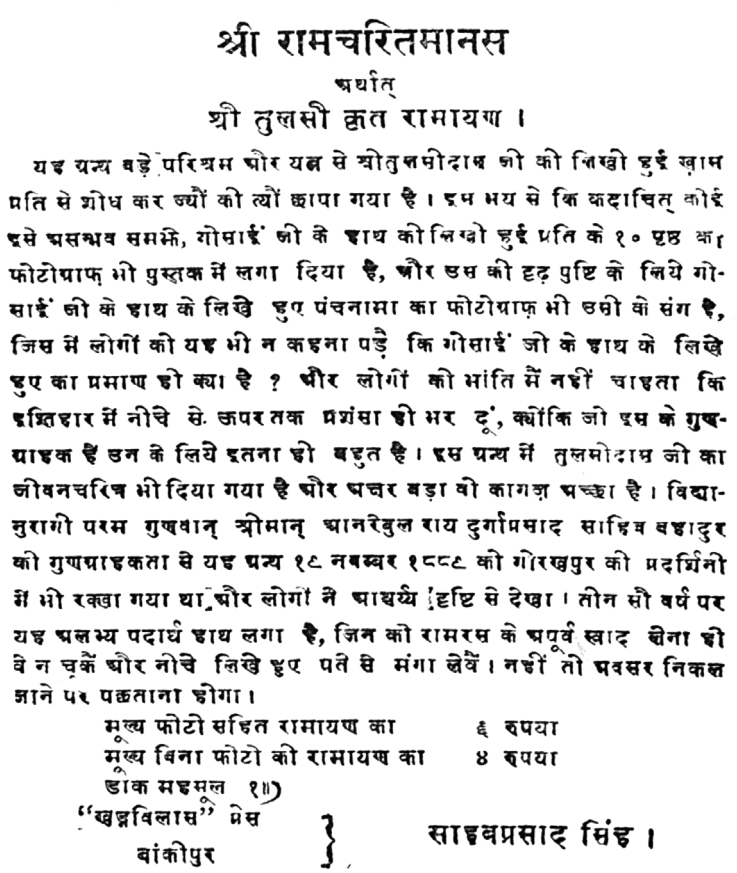

श्री रामचरितमानस

अर्थात्

श्री तुलसी कृत रामायण ।

यह ग्रन्थ बड़े परिश्रम और यत्न से श्रीतुलसीदास जी की लिखी हुई खास प्रति से शोध कर ज्यों की त्यों छापा गया है । इस भय से कि कदाचित् कोई इसे असम्भव समझे, गोसाईं जी के हाथ की लिखी हुई प्रति के १० पृष्ठ का फोटोग्राफ भी पुस्तक में लगा दिया है, और उस की दृढ़ पुष्टि के लिये गोसाईं जी के हाथ के लिखे हुए पंचनामा का फोटोग्राफ़ भी उसी के संग है, जिस में लोगों को यह भी न कहना पड़े कि गोसाईं जी के हाथ के लिखे हुए का प्रमाण ही क्या है ? और लोगों की भांति मैं नहीं चाहता कि इश्तिहार में नीचे से ऊपर तक प्रशंसा ही भर दूं, क्योंकि जो इस के गुणग्राहक हैं उन के लिये इतना ही बहुत है । इस ग्रन्थ में तुलसीदास जी का जीवनचरित्र भी दिया गया है और अक्षर बड़ा वो कागज़ अच्छा है । विद्यानुरागी परम गुणवान् श्रीमान् आनरेबुल राय दुर्गाप्रसाद साहिब बहादुर की गुणग्राहकता से यह ग्रन्थ १८ नवम्बर १८८८ को गोरखपुर की प्रदर्शिनी में भी रक्खा गया था और लोगों ने आश्चर्य दृष्टि से देखा । तीन सौ वर्ष पर यह अलभ्य पदार्थ हाथ लगा है, जिन को रामरस के अपूर्व स्वाद लेना हो वे न चूकें और नीचे लिखे हुए पते से मंगा लेवें । नहीं तो अवसर निकल जाने पर पछताना होगा ।

मूल्य फोटो सहित रामायण का ६ रुपया
मूल्य बिना फोटो की रामायण का ४ रुपया
डाक महसूल १॥)

"खड्गविलास" प्रेस
बांकीपुर

साहबप्रसाद सिंह ।

चित्र 13 : श्री रामचरित मानस के विज्ञापन का एक पृष्ठ। यहाँ फोटोग्राफ को एक ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में साहित्य के प्रमाणिकता की सिद्ध करने के लिए किया गया है। यह विज्ञापन संत तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई प्रति के 10 पृष्ठ के फोटोग्राफ की बात करता है और साथ ही गोसाईंजी के हाथ के लिखे हुए पंचनामा के फोटोग्राफ की दुहाई भी देता है। फोटोग्राफ, पंचनामा और प्रमाण के बीच का तार जिस विश्वास से एक धार्मिक किताब के विज्ञापन में केंद्रीय भूमिका का निर्वाह कर रहा है वह काबिले गौर है। यह विज्ञापन द्विजपत्रिका, खण्ड 1, संख्या 2, 3, 4 में छपा, खड़गविलास प्रेस, वांकीपुर, 1890।

चित्र और धर्म का यह संबंध फोटोग्राफी के आने से एक नए अर्थ और तेवर में जरुर आ रहा था, पर कोई नयी बात न थी। धार्मिक विश्वास के आईने में चित्र और प्रिंट संस्कृति के व्यवहार को इस लेख के शुरु में दिए गए उस विज्ञापन से औपनिवेशिक धरातल का भी अहसास होता है जिसमें हम पाते हैं कि "200 किस्म की उम्दा और खुबसूरत

हिंदु देवी देवताओं की आधे दाम में एक साथ ५) की तस्वीर लेने पर तीन तस्वीरें देवी देवताओं की और १ तस्वीर लार्ड लेंसडोन और उनकी लेडी साहबा की मुफ्त में"।[33] *श्री कमला* का एक विज्ञापन धर्म संस्कृति, बाजार और दृश्य संस्कृति के संबंधों को एक भिन्न धरातल पर ले जाता है जहां कोई फोटो या चित्र तो नहीं है लेकिन एक वस्तु–एक करामाती अंगूठी देवीय दर्शन करवाने का वादा करता है :

> "देखिये! मथुराजीकी अपूर्व कारीगरी देव दर्शनी अंगूठी। इस अंगूठी को प्रायः सभी मनुष्य जानते हैं। यह अँगूठी सोने की अंगूठी मुआफिक मालूम होती है। इस अंगूठी को एक बार जरुर मंगाना चाहिए क्योंकि इस अंगूठी में राधाकृष्ण, राम, लक्ष्मण, सीताजी, भरत, शत्रुघ्न, वसिष्ठजी, केदारनाथ, सेत्बंदरामेस्वर, शिवजी, पार्वतीजी, चिरलिला, नागलीला, चारों धाम की और अन्य देवताओं के घर बैठे दर्शन हो जाते हैं (मुसलमानों के पाक स्थान मक्कामदीना की भी मौजूद है) नंबर ०१ अंगूठी पीतल की पोलिस्दार फी अंगूठी =) आने एक दर्जन १।) (न0 २ जर्मन सिलवर की फी अंगूठी एक दर्जन १।।) (न0 ३) जिसके ऊपर नग जड़ा है नीची तस्वीर भी लगी है मूल्य फी अंगूठी १=) एक दर्जन ४) (न0 ४) असली चांदी की अंगूठी १।।) एक दर्जन १५) रुपया''।[34]

1920 के दशक में हम इस तरह के करामाती अंगूठी के विज्ञापन में देवी-देवताओं की सूची में महात्मा गाँधी का नाम भी पाते हैं। जिसकी विवेचना यहाँ विषयांतर के कारण मुल्तवी की जा रही है। हमारे लिए मानीखेज सवाल ये हो सकता है कि इस धार्मिकता, इस करामाती अंगूठी के वादों को तुलसी के रामायण के नए संस्करण में प्रकाशन के द्वारा तुलसी के पंचनामे के फोटोग्राफ का और उससे बनते साक्ष्य के क्या मायने निकाले? ये तार किस ओर हमें ले जा रहे हैं? जब हम करामाती अंगूठी और उसके चमत्कार की बात करते हैं तो क्या यहाँ दर्शन देने वाली यह अंगूठी और दर्शन की पूरी प्रक्रिया किसी प्रकार की सामर्थ्य, किसी एजेंसी में तो तब्दील नहीं हो रही है। क्या यहाँ अंगूठी जो

[33] पहले भी उल्लिखित, *हिंदी प्रदीप,* अप्रैल 1886।

[34] *श्री कमला,* भाग २, चौत्र बैसाख सं १९७४ एप्रिल 1919, संख्या ४९५, संपा. पंडित जीवानंद शर्मा काव्यतीर्थ, बिहार एंजेल प्रेस, भागलपुर।

एक कमोडिटी है उसको महज फेटिश में तब्दील होते देख हम संतुष्ट हो जायँ जिसके बारे में कॉल मार्कस भी ऊहा पोह में रहे। यदि यह चित्रमय (तुलसी रामायण के सन्दर्भ में) और दृश्यगत (दर्शन : करामाती अंगूठी के उदाहरण में) का एजेंसी के रुप में कायांतरण है तो इसका हमारे दृश्य इतिहास को देखने का क्या नया नजरिया मिल सकता है ?

संद्रिया फ्रिएतेग ने एक अहम् आलेख में तस्वीर और एजेंसी के बीच के रिश्तों पर प्रकाश डाला है और उन्होंने निष्कर्षतः माना है कि बीसवीं सदी के भारत में देखने की क्रिया, जानने की क्रिया है ('act of seeing became act of knowing')।[35] पर देखने और ज्ञान के संबंध से जो आधुनिकता के भी मूल में भी रहा है हम अंगूठी के करामात को कैसे व्याख्यायित कर सकेंगे ? मैं ऊपर कहे गए को दुहराते हुए जोड़ दूँगा कि अंगूठी तो देवताओं के दर्शन कराने के वायदे कर रही है और दर्शन की अवस्था (बतौर दीपेश चक्रवर्ती) चेतन मन की अन्तः क्रिया न होकर ज्ञान का एक रूप नहीं हो सकता।[36] दूसरी ओर करामाती अंगूठी के उदाहरण में साक्ष्य और ऐतिहासिकता की राह पकड़ी गयी है। एक विश्वास को, धार्मिकता को ज्ञान के माध्यम से पुख़ता करने की पहल है। मानो ऊपर के विज्ञापन में 'पंचनामे' की फोटो 'तुलसी रामायण' के तथाकथित प्रति को अधिक पवित्रता प्रदान कर रहा हो।

यदि हम चित्रमय (pictorial) को एक रिप्रेजेंटेशनल रजिस्टर के रुप में देखें (जोकि कोई भी फोटोग्राफ या पोस्टर होता है जिसका किसी तकनीक के द्वारा बड़े पैमाने पर किसी यंत्र की मदद से उत्पादन हो सकता है और जिससे एक बाजार का भी निर्माण होता है या फिर

---

[35] संद्रिया फ्रिएतेग, "द रिआल्म ऑफ़ द विजुअल : एजेंसी एंड द मॉडर्न सिविल सोसायटी", सुमथि रामास्वामी संपा. *कंट्रीब्युसंस टू इन्डियन सोसयोलोजी* (विशेषांक : *बियॉंड अपीयरेंस ? विजुअल प्रेक्टिसेज एंड आइडियोलोजीज इन मॉडर्न इण्डिया),* 36 संख्या 1 और 2, (जनवरी-अगस्त 2002): 365-398।

[36] दीपेश चक्रवर्ती, "द नेशन एंड इमेजिनेशन", *स्टडीज इन हिस्ट्री,* 15(2),1999:177–207; दर्शन की संकल्पना के लिए देखें डायना एल. *इक, दर्शनः सीइंग द डिवाइन इमेज इन इण्डिया,* पेन्सिल्वेनिया, अनिमा बुक्स, 1981(1985); लारेस बाब, "ग्लान्सिंग : विजुअल इंटरेक्शन इन हिन्दुइज्म", *जर्नल ऑफ एंथ्रोपोलोजिकल रिसर्च,* 37 (4), 1981: 387-401।

जो एक कमोडिटी के रुप में सर्कुलेट होता है) तो ऐसे में हमें दृश्यगत (visual) को एक अनुभव का दर्जा देना होगा जैसे कि देवी-देवताओं के दर्शन होना। एक ऐसा अनुभव जो देखने वाले से जुदा नहीं हो सकता है जिसका वर्णन तो किया जा सकता है लेकिन जिसको किसी दूसरे को दिया नहीं जा सकता है। जिसका लेन देन नहीं हो सकता। जिसे कंट्रोल या अनुशासित नहीं किया जा सकता। जिसके साक्ष्य या साक्षी नहीं हो सकते।

दर्शन या एक विशेष प्रकार की धार्मिक दृश्यगत अनुभव आधुनिकता के विमर्श का एक शक्तिशाली पर्याय है। आधुनिक विज्ञान ज्ञान के लिए आँख से देखे गए को तरजीह देता है, सबसे प्रमाणिक मानता है। पर दर्शन में हमारी दृष्टि महज आँखों तक केन्द्रित नहीं है। हम आँखें मूंदकर भी दर्शन की अवस्था में हो सकते हैं। अधिकतर उदाहरणों में तो बंद आँखों से ही भक्त को भगवान के दर्शन होते हैं। पर दर्शन की अपनी सीमाएं भी हैं। यदि संकल्पना के लिहाज से बात करें यह एक खास समुदाय और उसके धार्मिक विश्वासों से संरचित है। गैर हिन्दू समुदायों में, जैसे इस्लाम को मानने वाले समाज में, यदि हम दर्शन के अनुभव के आधार पर दलील दें तो वह बेमानी होगा। वहाँ अलग किस्म का विजन (vision) हो सकता है, रहस्यमय दृष्टि हो सकती है क्योंकि रहस्यवाद तो हरेक धर्म और सम्प्रदाय में मौजूद रहता ही है लेकिन वहाँ दर्शन नहीं हो सकता। ऐसा मेरा मत है। तो ऐसे में दर्शन आधुनिकताजन्य चित्र संस्कृति और उसके इतिहास को परखने के लिए आलोचनात्मक नजरिया तो देता है एक अन्तः दृष्टि प्रदान करता है भारतीय संदर्भ में देखने को विविधता की ओर ले जाता है लेकिन अपने आप में यह समाजशास्त्रीय धरातल पर एक एक्स्क्लुसनरी (exclusionary) केटेगरी बनकर रह जाता है। यह सोचना स्वाभाविक ही है कि दर्शन के इतर भी क्या हम देखने के, दृश्यगत अनुभवों को दैनिक चर्या की जमीन पर टटोल सकते हैं? आख़िर हम अपनी जिन्दगी हमेशा देवी देवताओं के दर्शन करते हुए तो बिताते नहीं। तो फिर, दैनिक जीवन में दृश्यगत को देखने दिखाने के अनुभव की क्या एजेंसी है? सवाल यह भी कि इस देखने के अनुभव को किस तरह संरचित, संयोजित किया जा रहा है? भूगोल के पठन-पाठन में एक ऐसे ही अनुभव के नियोजन की चर्चा है:

भूगोल पढ़ाने के तरीके

"इस पुस्तक में अनेक देशों का वर्णन है। विद्यार्थी इस पुस्तक को तोते की तरह कंठस्थ न करें। शिक्षक योग्य सबक चुनकर लड़कों के साथ पढ़ेगा, और जिस समय विद्यार्थी शिक्षक के साथ पढेंगे, उस समय उस देश का नक्शा सम्मुख रखा जायगा, जिस देश का ब्यौरा वे पढेंगे। और सब स्थान व भाग केंद्र व देशांतर व अक्षांश जिनका वर्णन होगा, नक्शा पर दिखलाए जायेंगे। जो सबक इस रीति से लड़के लोग शिक्षक के साथ पढेंगे, उसी सबक को वे अपने घर में सीखेंगे, और जब वे दूसरे दिन शाला आवेंगे, तो शिक्षक उनके सम्मुख नक्शा रखकर पूछेगा, और जो-२ उत्तम बातें शिक्षक तजुर्बा वा पढ़ने से जानता है, वह विद्यार्थियों से कहेगा। प्रगट हो कि यह पुस्तक केवल एक ढांचा है, और चाहिए कि शिक्षक उसमें मांस और जीव डाले।

जिस समय विद्यार्थी इस पुस्तक का भाग पढ़ेंगे जिसमें तारामंडल का वर्णन है, उस समय उचित है कि शिक्षक अपने विद्यार्थियों को संध्या के समय बुलावें और प्रसिद्ध ग्रह, उपग्रह और तारे दिखलावें, तब लड़के लोग कुछ-२ समझेंगे कि यह सृष्टि अपार है, और वे इस पृथ्वी के और अपने देश के और अपने हाल के बारे में नम्रता के साथ सोच विचार करेंगे, कि हमारे लोगों के प्राण इन अनगणित संसारों में अवश्य लुप्त हो जायेंगे, यदि एक ईश्वर न होता जो छोटी व बड़ी वस्तुओं को पहचानता और बचाता है। यह ईश्वर सब स्थानों में विद्यमान है, और बिना उसकी आज्ञा के वृक्ष का एक पत्ता भी नहीं गिरता। यह पुस्तक छत्तीसगढ़ के निवासियों को बहुत लाभदायक होगी। कारण वहाँ के लोग समझते हैं, कि यह पृथ्वी ऐसी छोटी और निकम्मी वस्तु है, कि कोई बुढ़िया वाहियात वस्तु लेकर संसार के प्रबंध में दखल दे सकती है और महामारी को ला सकती है और उन मनुष्यों को दुःख दे सकती, जिन लोगों पर उसकी शत्रुता है"।[37]

यहाँ नक्शे (जो एक चित्रमय ज्ञान है) को किस प्रकार देखना चाहिए, किस तरह से उपयोग करना चाहिए यह शिक्षा दी जा रही है। लेकिन फिर जब हम तारामंडल की तरफ उन्मुख होते हैं तो वहाँ अनुभूति, औब्जर्वेशन (observation) की अहमियत गिनाई जा रही है। सृष्टि की

[37] भूमिका, एच ब्लॉकमान, भूगोल हिंदुस्तान की, अनुवादक, बाबू राजा, बम्बई, प्रकाशन का नाम ज्ञात नहीं, 1880।

विशालता और ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान दिया जा रहा है। और, पुनः तीसरे हिस्से में, अंध विश्वास को खारिज किया जा रहा है। यहाँ नक्शा और आस पास के बाह्य जगत दोनों के औब्जर्वेशन का एक मिश्रित मॉडल है जिससे अंध विश्वास और कूप मंडूकता ('छत्तीसगढ़ के... लोग समझते हैं, कि यह पृथ्वी ऐसी छोटी और निकम्मी वस्तु है ... बुढ़िया... संसार के प्रबंध में दखल') हटेगी लेकिन ईश्वर के अस्तित्व मिटाने के मूल्य पर नहीं। यहाँ ज्ञान भी है और भक्ति भी।

लेकिन इन दिए गए उदाहरणों से बहुत भिन्न ऐसी भी सामग्रियां हैं जहां देखने को बिलकुल अलग तरह से नियोजित करने का प्रयास हो रहा था। जैसे एंड्रू बेल की किताब जो पाठशाला के बैठवाने की रीति को संबोधित करती है।[38] कुछ इस तरह के उद्देश्य (शिक्षा देने की रीति से जुड़े) से लखनऊ के एक हेडमास्टर बाबू रामचंद्र सेन की किताब *हिदायतनामा* (मुंशी नवलकिशोर प्रेस, 1871) में यह सुझाया गया है की 'सम्पूर्ण शाला में ऐसी दृष्टि करें कि सब बालक अपने ही ऊपर समझें"।[39] यहाँ अनुशासन और ऑर्डर की अपेक्षा है जो दृश्यगत है। बाद वाला उदाहरण तो मिशेल फूको द्वारा चर्चित मशहूर पैनोप्टीकन की याद दिलाता है। पाठशाला के बाहर नैतिक स्तर पर भी चित्र देह को और दैनिक चर्या को संबोधित करते मिलते हैं जैसा कि चित्र 14 से ज्ञात होता है। यहाँ दैनिक अनुभव को अनुशासित करने का यत्न है। यहाँ एक सुसभ्य और आदर्श बालक के पूरे दिन को अनुशासित करने का यत्न किया गया है और वह भी एक खेल की तरह से जिसमें दैनिक चर्या को चित्र से पहचान करना है और इनाम का हकदार बनना है। यह न मात्र पाठकों को चित्र से जोड़ने की नीति है बल्कि एक तरह से एक इंटरेक्टिव स्पेस भी मुहैया करा रहा है जो सम्पादक के नाम खत से बहुत अलग है। ध्यान देने पर इस चित्र के देह और उसके परिवेश को निर्मित करने वाले अनेक जेंडर और सामाजिक चिन्ह (मार्कर) भी हमारे सामने आ ही जाते हैं जिन पर यहाँ विस्तार से चर्चा करना संभव नहीं है। लेकिन यह जिक्र कर

[38] एंड्रू बेल, *पाठशाला के बैठवाने की रीति,* कलकत्ता, स्कूल बुक सोसायटी'ज प्रेस, 1824, लन्दन, ब्रिटिश लाइब्रेरी, 279/50.E.16 & 14156.d.1.(1.)।

[39] बाबू रामचंद्र सेन, हिदायतनामा, लखनऊ, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, 1871, पृष्ठ 2, लन्दन, ब्रिटिश लाइब्रेरी, 14160.c.4.(6.)।

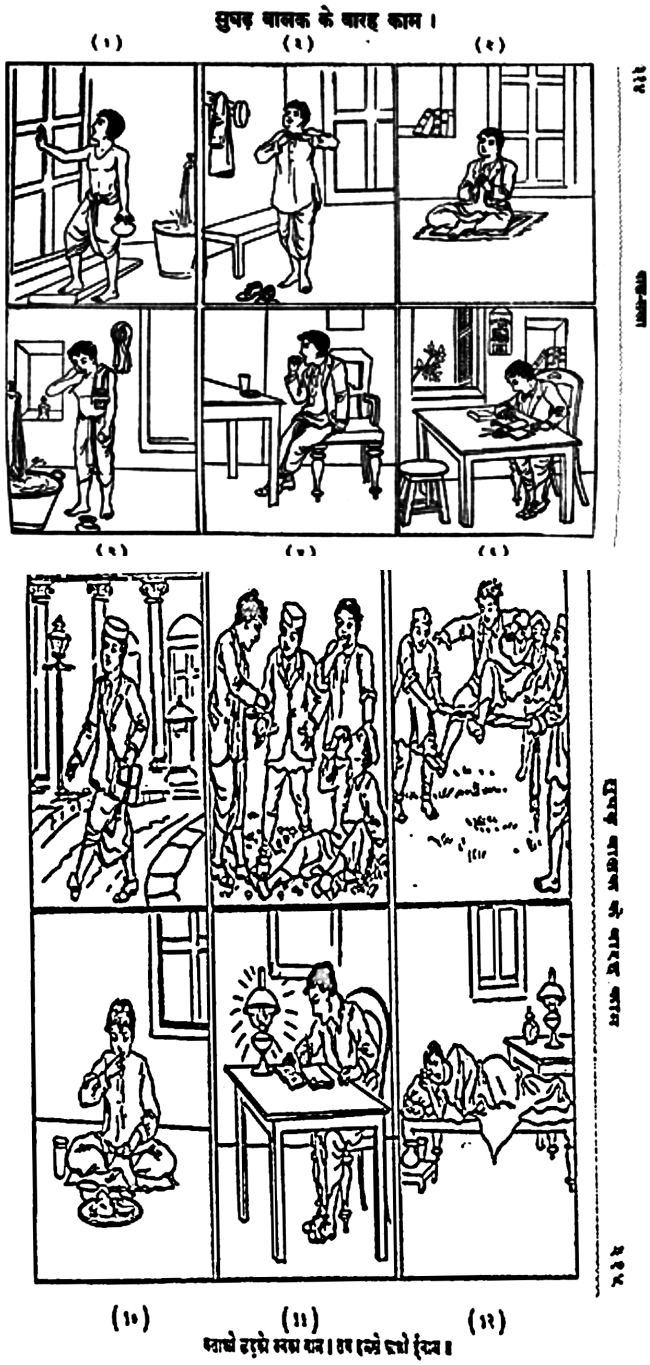

चित्र 14 : ''सुघड़ बालक के बारह काम'', *बालसखा*, संपा. गिरिजा दत्त शुक्ल, प्रयाग, 1927 (सितम्बर)।

देना अनुचित नहीं होगा की यह देह एक पुरुष बालक का है जो मध्यवर्गीय और शहरी परिवेश की तरफ ही इशारा करता है। बच्चे की देह के सामान ही बालिकाओं और महिलाओं के देह पर चित्र के माध्यम से होती दावेदारियाँ कुछ कम नहीं रही (चित्र)।

यहाँ 'माताजी' और 'मेम साहब' के विपरीत रुपकोण के माध्यम से देह पर, उसको देखने के नजरिये पर, उस देह पर उपभोग किये जाने वाली वस्तुओं और होने वाले खर्चे की इबारत लिखी गयी है। इस इबारत में फिजूलखर्ची से बचने की ताकीद की जा रही है। और, रिस्ट वाच, फाउन्टेन पेन फिजूल खर्ची की सूची में शामिल हैं। चित्र की और देखने वाले नज़रिये की अपेक्षाएं किस राजनीति के पाले में है यह अनुमान लगाना बहुत मुश्किल नहीं है। देह को केंद्र में रखकर निर्मित हो रहे स्टीरिओटाईप्स और पदानुक्रम (hierarchies) इस चित्र को देखने के हमारे नज़र, चित्रित देह और इच्छित अभिव्यक्ति के माध्यम (फाउंटेन पेन) तीनों को अपने जाल में समेटे हुए है।

When we can live economically, why should we waste our hard-earned money on foreign goods and on fashion !

चित्र 15 : माताजी और मेम साहब की तुलना, कार्टून स्वदेशी पर 50 रोचक कार्टून्स संबंधी पुस्तिका,, इलाहाबाद स्वदेशी लीग, इलाहाबाद, 1038।
यह उदाहरण इस अध्ययन की समय सीमा के परवर्ती होने के बाद भी यहां शामिल किया गया है।